सामवेदीय गृह्यसूत्रों के विभिन्न पक्षों का समीक्षात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की
पी० एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

निर्देशक -
डा० ओमकार मिश्र
एम० ए०, पी० एच० डी०
प्रवक्ता संस्कृत विभाग
अतर्रा पी० जी० कालेज
अतर्रा-(बाँदा)

शोध छात्रा -
विमलेश विमलेश
एम० ए०, बी० एड०

अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अतर्रा (बाँदा)

- 2001 -

– आभार –

मैं बचपन से ही संस्कृत के शब्दों को सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाया करती थी। इसी के कारण मैंने संस्कृत विषय में एम0ए0 किया। एम0ए0 करते समय ही मेरे मन में पी0–एच0डी0 करने की भावना ने जन्म लिया। मेरी इस भावना को प्रोत्साहन दिया श्री राजाराम दीक्षित जी ने , जो इस समय अतर्रा महाविद्यालय, अतर्रा (बॉदा) में संस्कृत विभागाध्यक्ष हैं। अतः सर्वप्रथम मैं उनके प्रति आभारी हूँ। इसके उपरान्त मैं अपने शोध निर्देशक डा0 ओमकार मिश्र, प्रवक्ता–संस्कृत, अतर्रा महाविद्यालय, अतर्रा (बॉदा) के प्रति आभार प्रदर्शित करती हूँ जिन्होंने," सामवेदीय गृहय सूत्रों के विभिन्न पक्षों का समीक्षात्मक अध्ययन" विषय निर्धारित कराकर भरपूर निर्देशन किया। इसके अतिरिक्त मैं विभाग के अन्य गुरूजनों की भी आभारी हूँ जिन्होंने शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरे मनोबल को बढ़ाया।

मैं अपने पति श्री श्याम चरन कुशवाहा की विशेष आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध को पूर्ण करने में समय–समय पर न केवल मेरे मनोबल को बढ़ाया बल्कि अपना अमूल्य सहयोग भी प्रदान किया।

अन्त में टंकक श्री अखिलेश कुमार के प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ जिन्होने अपने अथक प्रयास से इस शोध प्रबन्ध का टंकण किया।

दिनॉक – 20.10.2001
स्थान – इलाहाबाद

(विमलेश) विमलेश
(एम0ए0, बी0एड0)

डा0 ओमकार मिश्र

एम0ए0, पी0एच0डी0
प्रवक्ता , संस्कृत विभाग
अतर्रा पी0जी0 कालेज
अतर्रा – (बॉदा)

सम्पर्क

द्वारा सन्त कुमार अग्निहोत्री
गौराबाबा के पास ,नरैनी रोड़
अतर्रा (बॉदा) – 210201

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती विमलेश , शोध छात्रा संस्कृत विभाग, अतर्रा पी0जी0 कालेज, अतर्रा (बॉदा) ने, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय के नियमानुसार न्यूनतम 200 दिन की अवधि को पूर्ण करते हुए, ''सामवेदीय गृहयसूत्रों के विभिन्न पक्षों का समीक्षात्मक अध्ययन''विषय पर शोध कार्य पूर्ण कर लिया है। शोध छात्रा के रूप में किया गया यह कार्य शोध प्रबन्ध के उद्देश्यों पर आधरित है। इनका यह कार्य मौलिक एंव प्रशंसनीय है।

दिनॉक – 1.1.2002

(डा0 ओमकार मिश्र)

सामवेदीय गृहयसूत्रों के विभिन्न पक्षों का समीक्षात्मक अध्ययन

अनुक्रमणिका

भूमिका

भूमिका

भारत अपनी सांस्कृतिक विरासत की दृष्टि से दुनियाँ में सबसे धनी है। अपनी सभ्यता व संस्कृति के ही कारण इसे प्राचीनकाल में जगद्गुरू की उपाधि प्राप्त थी। इसकी संस्कृति में इतनी जीवनी शक्ति है कि दुनियाँ की कितनी संस्कृतियाँ इसके सामने जनमीं और गर्त में विलीन हो गईं, लेकिन यह ज्यों की त्यों बनी रही, जबकि इस देश पर बहुत दिनों तक विदेशियों का शासन रहा। यदि हम भारत के धर्म, सभ्यता व संस्कृति का यथोचित ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो वैदिक वाङ्मय का अध्ययन व ज्ञान परमावश्यक हो जाता है।

इस लोक को आधार मानकर जो साधना की जाती है वह है संस्कृति और परलोक को आधार मानकर जो साधना की जाती है वह है धर्म। भारतीय संस्कृति और धर्म में युग युगान्तर के मनीषियों का मनन सन्निहित है। हमारी संस्कृति व धर्म किसी विशिष्ट महापुरूष द्वारा संचालित नही हैं, अपितु एक दीर्घकालीन परम्परा का परिणाम है।

पाश्चात्य सभ्यता की यह विशिष्टता रही है कि उसका जहाँ प्रचार व प्रसार हुआ, उसने वहाँ की पुरानी सभ्यता को विनष्ट व निर्मूल करने में कोई कसर नही रखी। भारतीय संस्कृति का इतिहास तो इससे सर्वथा भिन्न है। यह संस्कृति दूसरों की संस्कृति पर कुठाराघात नहीं करती बल्कि उसे आदर की दृष्टि से देखती है। हमारी यह वैदिक सभ्यता व संस्कृति वेदों से प्रादुर्भूत होने के कारण अति प्राचीन है।

दुःखत्रय के अभिघात से अभिभूत मनुष्य इस सृष्टि के आवागमन से विनिर्मुक्ति चाहता है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में आवागमन से मुक्ति के लिए दो मार्ग बतलाये गये हैं – कर्मकाण्डपरक मार्ग व ज्ञानकाण्ड परक मार्ग। कर्मकाण्ड परक मार्ग यज्ञ यागादि हैं, जिनका प्रतिपादन, संहिता ब्राह्मणों, आरण्यकों व वेदांगों में किया गया है। द्वितीय मार्ग ज्ञानकाण्ड परक, दुर्लभ है, इसलिए सर्वसुलभ इस कर्मकाण्ड परक मार्ग को अधिकांश लोगों ने अपनाया जिनका प्रतिपादन गृह्यसूत्रों में भी किया गया है। ये गृह्यसूत्र क्या हैं ? वैदिक वाङमय में इनका क्या स्थान है, ये कितने हैं ? इनके विवेच्य क्या हैं ? इन सभी का क्रमबद्ध अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है।

वैदिक वाङ्मय के प्रथम सोपान हैं – चार संहितायें, जिन्हें चार वेदों के नाम से लोग जानते हैं। वेदों के कारण ही हम भारतीय महान और गौरवान्वित हुए हैं। अगर हम ऐतिहासिक

परम्परानुसार अवलोकन करें तो वेद संसार के आदिग्रन्थ हैं। जब इस दुनियाँ में सभ्यता का नामोनिशान नही था, तब के रचे गये हैं ये वेद। भारतीय विचारधारा के चिन्तक, वेदों को इस सृष्टि के भी पूर्व के मानते हैं, उनका कहना है कि वेद उस परम परमेश्वर के निःश्वास के रूप में निकले और ऋषियों ने उनका साक्षात्कार किया। वेदों के ही आधार पर इस सृष्टि की रचना हुयी, अतः वेद अपौरूषेय व इस सृष्टि के पूर्व के हैं।

वेदों के अध्ययन से यह विदित होता है कि आर्य किस प्रकार अपने धर्मों का परिपालन करते थे ? उनकी सोच कितनी विशुद्ध वैज्ञानिक स्तर की थी ? जीवन के हर क्षेत्र का उन्हें अच्छी तरह से ज्ञान था। वेदों की इसी अगाधता को देखकर – प्रो0 मैक्डानल ने कहा है कि "संसार के साहित्यमें संस्कृत साहित्य का विशेष महत्त्व है। उसकी गहराई और विस्तार दोनों ही संसार के सभी साहित्यों से बढ़कर है। विस्तार में वह ग्रीस और रोम दोनो के सम्मिलित साहित्यों से अधिक है।" इस तरह हम देखते हैं कि मानव जाति की धार्मिक भावना का प्रारम्भिक स्वरूप इसी वैदिक साहित्य में ही अवलोकित किया जा सकता है। संसार के किसी दूसरे साहित्य से अधिक इस साहित्य में धार्मिक वैचारिक विकास का चित्र स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। हिन्दुस्तान के इस अति प्राचीन साहित्य का जो माहात्म्य है, उसका मुख्य कारण उसकी अपूर्वता ही है।

वेद शब्द की व्युत्पत्ति विद् धातु से मानी जाती है। विद् धातु के अनेक अर्थ हैं – विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद् सत्तायाम्, और विद्लृ लाभे। इन चार अर्थों में विद् ज्ञाने का प्रयोग लोगों में सर्वाधिक प्रचलित है। इस प्रकार इन चार अर्थों वाली विद् धातु से धञ् प्रत्यय करके वेद शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है ज्ञान राशि। जिन – जिन के सम्बन्ध में हम जानकारी करना चाहते हैं, उन सभी का ज्ञान हमें वेदों में हो जाता है, चाहे व आत्मिक ज्ञान हो चाहे भौतिक ज्ञान। हम हजार तर्कों के माध्यम से ज्ञान की जिस स्थिति तक नही पहुँच सकते सभी प्रमाणों से जिसे नही जान सकते, उन सबकी कुंजी वेदों में है।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।

वेदों की इसी महनीयता से अभिभूत होकर पाश्चात्य विद्वान विण्टरनिट्ज ने लिखा है कि "जो मनुष्य वैदिक साहित्य को समझने में असमर्थ रहता है, वह भारतीय संस्कृति को नही जान सकता। वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति बौद्ध साहित्य के रहस्य को भी समझने में असमर्थ

रहता है क्योकि बौद्ध साहित्य वैदिक साहित्य का नवीन विकास या नव्य स्वरूप हैं।" (संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ0 द्वारिका प्रसाद सक्सेना)

वेद शब्द का प्रयोग वैदिक काल में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय अर्थ में प्रयुक्त होता था, जिसमें संहिता ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् व वेदांग आते हैं। लेकिन समयान्तर में मात्र मन्त्र व ब्राह्मण भाग को ही वेद की संज्ञा से अभिहित किया गया – "मन्त्र ब्राह्मणयोवेदनामधेयम्।" इस प्रसंग में आचार्य सायण ने तैत्तिरीय संहिता की भाष्य भूमिका में अपना अभिमत प्रकट किया है कि "यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यान स्वरूपात् मन्त्राएवादौ समाम्नाताः। इस तरह केवल मंत्र ही वेद की कोटि में आते हैं।

स्वामी शंकराचार्य ने यद्यपि वैदिक संहिताओं को कर्मकाण्डपरक स्वीकृत कर केवल प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् व गीता) को ही स्वधर्म प्रवर्तन का मूलाधार बनाया तो भी वेदों के महत्त्व को उन्होंने पूर्णतया स्वीकार किया है। उन्होंने ब्रह्मसूत्रभाष्य में स्पष्ट कहा है कि "शास्त्र शब्द द्वारा वेद ही लक्षित है क्योंकि वह सब विद्यास्थानों से उपवृंहित, प्रदीप के समान सब अर्थो के प्रकाशन में समर्थ और सर्वज्ञ कल्प महान ऋग्वेदादि रूप सर्वगुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति रूप ब्रह्म है। सर्वज्ञ को छोड़कर इस गुणान्वित शास्त्र की उत्पत्ति दूसरे से नही हो सकती।"(ब्रह्मसूत्र भाष्य, अधि0 3, सूत्र 3, पृ0 127 हिन्दी रूपान्तर)

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वेद के चार विभाग उपलब्ध होते हैं – संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। स्तुति प्रधान मंत्रों का समावेश ही संहिता नाम से जाना जाता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है कि ***"संहिता पदप्रकृतिः"*** अर्थात् पदों की प्रकृति ही संहिता है। ये संहितायें चार हैं– ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता।

संहिता साहित्य के बाद ऐतिहासिक क्रम में ब्राह्मण–साहित्य आता है। ब्राह्मण वे ग्रन्थ हैं जिनमें मंत्रों की कर्मकाण्डपरक व्याख्यायें की गई हैं। कर्मपरक वाक्य ही ब्राह्मण कहलाते हैं– ***"कर्म चोदना ब्राह्मणानि"।*** मेदिनी कोष में ब्राह्मणों के विषय में कहा गया है कि ***"ब्राह्मणं ब्रह्म संघाते वेद भागे नपुंसकम्।"*** इन विवेचनों से यही स्पष्ट होता है कि कर्म–प्रेरक वाक्य ही ब्राह्मण हैं। ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द हमेशा नपुंसक लिंग में ही प्रयुक्त होता है। साहित्यिक माधुर्य की दृष्टि से इन ग्रन्थों में कोई खास आकर्षण नही दिखलायी देता किन्तु इतना तो निर्विवाद ही है कि उत्तरकाल के धार्मिक व आध्यात्मिक साहित्य के ज्ञान के लिए ये कुंजी का कार्य करते हैं।

इन ग्रन्थों के विकास के चिन्तन की तरफ ध्यान दिया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि किसी समय ऐसे अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ अवश्य विद्यमान रहे होगें, क्योंकि आज उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है जो आज अप्राप्य है। चारो वैदिक संहिताओं के अपनी शाखानुसार अलग–अलग ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इन ब्राह्मण ग्रन्थों का इतना महत्त्व उस काल में था कि वेद की परिभाषा करते समय "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" कहकर ब्राह्मणों को मन्त्रों के समान दर्जा दिया गया और मंत्रों तथा ब्राह्मण का संयुक्त नाम वेद कहा गया। आज ऋग्वेद के दो ब्राह्मण उपलब्ध होते है – ऐतरेय व कौषीतकि (शांखायन)। सामवेदीय ब्राह्मणों में ताण्ड्य, षड्विंश व जैमिनीय ब्राह्मण प्रमुख हैं। कृष्णयजुर्वेद का तौत्तिरीय ब्राह्मण अपनी महनीयता के कारण प्रसिद्ध है। शुक्ल यजुर्वेद की दोनो शाखाओं काण्व व माध्यन्दिन में शतपथ ब्राह्मण उपलब्ध होता है। 100 अध्यायों वाला होने से इसका यह नामकरण किया गया। इसी ब्राह्मण का अन्तिम भाग बृहदारण्यक उपनिषद् नाम से विख्यात है। सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य में यह ब्राह्मण अपने विवेच्य के कारण सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। अथर्ववेद का मात्र एक ही ब्राह्मण है वह है गोपथ ब्राह्मण।

इन वैदिक संहिताओं के ही समान ब्राह्मणों का काल निर्धारण भी अभी तक स्थिर नही हो पाया है। एक जनश्रुति है कि व्यास ने अपने शिष्य की सहायता से ऋग्वेद–संहिता का सम्पादन किया था। ये व्यास महाभारत काल में हुए, तब तक ब्राह्मण काल की क्रियात्मक प्रणाली का जन्म तो निश्यच ही हो चुका होगा, क्योकि ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम आचार्य तथा जनमेजय का पुरोहित *'तुरूकावषेय'* महाभारत काल के अन्त में हुआ। फिर भी ब्राह्मणों के निर्माण व उनके क्रियात्मक काल में पर्याप्त अन्तर रहा होगा। लेकिन इतना तो निर्विवाद है कि कुछ ब्राह्मण अत्यन्त प्राचीन कालीन हैं, लगभग संहिताओं के काल के। जिनमें कुछ समय के प्रवाह में विलुप्त हो गये। ब्राह्मणों की विषयवस्तु दस भागों मे विभक्त की गया है –

"हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।

परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना।।

उपमानं दशैते तु विषयो ब्राह्मणस्य तु।।"

वेदों का तृतीय विभाग 'आरण्यक' नाम से जाना जाता है। अरण्य में पठित व अधीत होने के कारण इन्हें आरण्यक कहते है – ***"अरण्येऽध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते"***। इस स्थल तक आते–आते वैदिक साहित्य स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होने लगा। जिसका

परिणाम उपनिषद् साहित्य हैं। ये ग्रन्थ वानप्रस्थी जीवन व्यतीत करने वाले, रागद्वेष विनिर्मुक्त मनस्वियों के कर्मों का विधान करते है। ये ग्रन्थ यज्ञ –यागों के अन्तः विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की विवेचना करते हैं। ये आध्यात्मिक तथ्य कर्मकाण्डों से कैसे उद्भूत हुए यह भी विचारणीय प्रश्न है। ये दार्शनिक विचार मेरी दृष्टि में ब्राह्मण ग्रन्थों से ही प्रस्फुटित होने शुरू हो गये थे। ऋग्वेद में बहुत से ऐसे मंत्र उपलब्ध होते हैं जिनमें देवताओं के विषय में प्रश्नात्मक धारायें उठ खड़ी हुयी हैं, जो निश्चय ही दार्शनिकता की पृष्ठभूमि है। यही ऋग्वेदीय संदेहशील जिज्ञासु भारत के प्रथम दार्शनिक कहे जा सकते हैं।

इतना तो निर्विवाद है कि ये दार्शनिक यज्ञों में पौरोहित्त्व कर्म करने वाले नही हुए, क्योंकि पुरोहितों के मन में देवताओं के सम्बन्ध में शंकायें नही उत्पन्न हो सकतीं। देवताओं के सम्बन्ध में शंकायें व दार्शनिक भावनाओं का उद्भव तो इनसे अतिरिक्त लोगों में हो सकती हैं और वे ऐसे लोग हो सकते हैं जो धनी, प्रभावी व यज्ञों के प्रति उदासीन हों।

वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद् रूप में प्रख्यात हैं। वेदों के अन्तिम भाग होने के कारण ही उपनिषदों को वेदान्त नाम से जाना जाता है। उपनिषदों में वेदों के तत्त्वपरक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया। उपनिषद् शब्द उप व नि उपसर्ग पूर्वक षद् लृ विशरण गति अवसादनेषु धातु से निष्पन्न हुआ है। विशरण का अर्थ है नाश, अर्थात् यह विद्या अज्ञान का नाश करती है। गति का अर्थ है प्राप्त होना, अर्थात् इस विद्या द्वारा जीव ब्रह्म को प्राप्त करता है। तृतीय अर्थ है 'अवसादन' जिसका अर्थ है शिथिल करना अर्थात् यह विद्या माया के बन्धनों को शिथिल कर अज्ञान का नाश कर जीव को ब्रह्म की प्राप्ति कराये वह है उपनिषद्। उपनिषद् का द्वितीय अर्थ है उप व नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से निष्पन्न। सद् धातु का अर्थ है पास बैठना। इस तरह उपनिषद् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ गुरू के पास शिष्य का शिक्षाग्रहणार्थ बैठना।

विभिन्न ब्राह्मण – ग्रन्थों से यह बात स्पष्ट होती है कि जिस समय ब्राह्मण पुरोहित यज्ञ–यागों के आडम्बर में उलझे थे उस राजा लोग उपनिषदों की ब्रह्म विद्या के अन्वेषण में जुटे थे। इस तरह उपनिषदों का ज्ञान ग्रहण करने में ब्राह्मणातिरिक्त जातियों का विशेष हाथ रहा। इस विद्या का प्रचार प्रसार ब्राह्मण गुरूकुलों से होता था। इस सम्बन्ध में विण्टरनिट्ज नामक एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि ब्राह्मणों में परिस्थितियों के अनुकूल अपने को परिवर्तित करने की क्षमता सदैव रही है। बुद्ध के प्रभाव को देखकर उनकों भी अवतारों की परम्परा में सम्मिलित कर लिया तथा आश्रमों की स्थापना करके सन्यास का मार्ग सभी के लिए खोल दिया। इस प्रकार

ब्राह्मण वर्ग धीरे–धीरे उपनिषद् के सिद्धान्तों के सीखने में लग गया। ऋग्वेद के ऐतरेय तथा कौषीतकि, कृष्ण युजुर्वेद का तैत्तिरीय, कठ श्वेताश्वतर उपनिषद् प्रमुख हैं। शुक्ल यजुर्वेद के बृहदारण्यक, ईश महानारायणीय आदि विशिष्ट उपनिषद् हैं। सामवेद के छान्दोग्य व केन उपनिषद् तथा अथर्ववेद के मुण्डकोपनिषद् व प्रश्नोपनिषद् उपनिषद् साहित्य में महिमामण्डित हैं। उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी, आत्मा सम्बन्धी, प्राण सम्बन्धी इस संसार में आवागमन सम्बन्धी, कर्म सम्बन्धी व नैतिक आदर्शों सम्बन्धी सिद्धान्तों के विवेचन बड़ी सूक्ष्मता के साथ किये गये हैं। इस प्रकार उपनिषदों के सम्बन्ध में हम यह कह सकते है कि उपनिषद् वह महासागर है जिससे ज्ञान, विज्ञान की विविध सरितायें निकलकर इस धराधाम को पवित्र करते हुए भारतीयों की ज्ञान गरिमा को संसार के सम्मुख प्रस्तुत कर संसार में इस वैशिष्ट्य को प्रसारित करती हैं।

सूत्र साहित्य :-

भारतीय चिन्तन परम्परा में विद्यायें दो प्रकार की बतलाई गयी है। इस सम्बन्ध में माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि विद्यायें दो प्रकार की होती है – परा विद्या व अपरा विद्या। पराविद्या सर्वोत्तम कोटि की है। यह विद्या व्यक्ति को ब्रह्म ज्ञान प्रदान करती है। द्वितीय विद्या अपराषड्वेदागों का ज्ञान कराती है। इस सूत्र साहित्य का पूर्ण विकास इन्ही वेदांगों के काल में हुआ। ये वेदांग है – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष। इस सूत्र साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी शैली। ये साहित्य सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय व अपनी अध्ययन परम्परा व चिन्तन परम्परा के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। इस सूत्र साहित्य का काल वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य के बीच का है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ये सूत्र साहित्य वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य के बीच कड़ी का काम करते हैं। इस साहित्य का यह वैशिष्ट्य है कि थोड़े से शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ को कह देना। इसीलिए सूत्र को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि –

"अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तो भमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।"

ब्राह्मणकाल में यज्ञविधान की इतनी विस्तृति हो गयी थी कि उन सभी के यादास्त के लिए छोटे छोटे सूत्रों के निर्माण की आवश्यकता महसूस हुयी। विचारणीय विषयों की याद को चिरस्थायिनी

बनाने के लिए ये संक्षिप्त सूत्र बड़े सहायक सिद्ध हुए। इन सूत्रों की प्रथा का इतना प्रचार – प्रसार हुआ कि हर विद्वान इस विषय में उत्सुक रहने लगा। इन भावना से भावित होकर महाभाष्यकार पतंजलि को *"अर्धमात्रालाधवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैय्याकरणाः"* लिखना पड़ा। कालान्तर में जब ये सूत्र भी कठिन प्रतीत होने लगे तो इन सूत्रों पर टीकायें लिखी जाने लगीं।

इस सूत्र साहित्य का सूक्ष्म संकेत ब्राह्मण साहित्य में ही दृष्टिगोचर होते हैं। साहित्य में युगों का विभाजन अध्ययन सौकर्य के लिए ही होता है, इस तथ्य को हमेशा स्मरण रखना होगा। वैसे तो ब्राह्मणों व आरण्यक्रों में वर्ण्य यज्ञों में ही इस शैली को अवलोकित किया जा सकता है। ये सूत्र साहित्य वैदिक वाङ्मय के अन्तिम चरण के ही साहित्य हैं। विण्टरनिट्ज महोदय इस सम्बन्ध में कहते है कि *"सूत्र साहित्य में (सूत्र वस्त्रों की भाँति) विचारों की व्यवस्था तथा परस्पर संगति लाकर कल्पना को अनुसूत्रित किया गया हैं।'* सूत्र साहित्य की भाषा अतिसंक्षिप्त स्पष्ट एवं बुद्धिग्राह्य है। सूत्र साहित्य के सम्बन्ध में मैक्डानल महोदय ने अपने *'संस्कृत साहित्य के इतिहास'* में कुछ अभिव्यक्ति की है, जिसका सार इस प्रकार है– *'इस श्रेणी के साहित्य का उत्थान ब्राह्मण ग्रन्थों में सुरक्षित एवं लोक परम्परा में स्पन्दमान धार्मिक संस्कारों तथा रीति रिवाजों के विस्तार व बहुप्रकार की संक्षिप्तता के लिए हुआ था, जिससे उन्हें क्रमिक स्वरूप दिया जा सके और ससीम किया जा सके जिससे यह संस्कार स्मृतिपटल पर अध्ययन अध्यापन के लिए भार - स्वरूप न बन सके।'* किन्तु ऐसा न हो सका। सहजावबोध के स्थान पर इस शैली के कारण दुरूहता आ गई। लोगों में यह होड़ लग गयी कि अपनी शैली को कौन सूक्ष्माति सूक्ष्म बनाता है। यहाँ तक हुआ कि अर्धमात्रा के लाधव को पुत्रोत्सव के समान मानने लगे – *"अर्धमात्रालाधवं पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैय्याकरणाः।"* लाधव को इतनी प्राथमिकता दी गयी कि धीरे – धीरे अर्थलोप भी होने लगा। ये साहित्य केवल धार्मिक विधि विधानों के वर्णन तक ही अपने को सीमित नही रखे प्रत्युत धार्मिक क्रियाकलापों की विधि का स्पष्ट रूपेण वर्णन के साथ वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक विषयों को भी अपने भीतर समाहित किये। सम्पूर्ण वेदांग साहित्य सूत्र साहित्य के अर्न्तगत ही आते हैं।

वेदांग

वैदिक मंत्रों के शुद्धोच्चारण व कर्मकाण्डों के सही प्रतिपादन के लिए वेदांगों की महती उपयोगिता है। जैसे किसी व्यक्ति की पहचान उसके अंगो से होती है, ठीक उसी प्रकार वेदों

के सम्बन्ध में निश्चयात्मक ज्ञान वेदांगों के माध्यम से ही होता है।

वेदांग शब्द दो शब्दों के मेल से बना है – वेद+अंग। वेद शब्द की व्याख्या पहले की जा चुकी है। अब क्रम प्राप्त है अंग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – उपकारक। *"अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अंगानि"*– अर्थात् जिससे किसी के स्वरूप का अवबोध हो उसे अंग कहते है। वेदांगों के द्वारा वेदो के स्वरूप का अवबोध होता है जैसे – मंत्रों का उच्चारण कैसे किया जाय? यज्ञों या छोटे–छोटे गृह्यकर्मों का सम्पादन कैसे किया जाय? मंत्रों में प्रयुक्त शब्दो का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ क्या है? कैसे उच्चारण करे कि छन्दों का स्वरूप बना रहे ? कौन सा धार्मिक कृत्य किस शुभ मुहूर्त में किया जाय आदि विभिन्न विषयों के लिए वेदांगों की उपयोगिता है। ये वेदांग छः है – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूत्म, छन्द और ज्योतिष। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है –

शिक्षा –

शिक्षा नामक वेदांग संहिता साहित्य के पूरक ग्रन्थ है। ये शिक्षा ग्रन्थ संहिताओं के ठीक – ठीक उच्चारण करने का विवेचन करते हैं। मन्त्रोच्चारण कैसे किया जाय? इसको सिखाने के ही कारण इनका शिक्षा नामकरण किया गया है। *"शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य"* के अनुसार शिक्षा वेदपुरूष की घ्राण है। जिस तरह नासिका रहित पुरूष नितान्त निन्दनीय व अशोभनीय लगता है वैसे ही शिक्षा से विरहित वेद पुरूष की स्थिति होगी।

स्वर वर्ण आदि के उच्चारण का प्रकार जिस ग्रन्थ में बतलाया गया है उसे शिक्षा कहते हैं – *"स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा।"* इस तरह यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा वेदों के व्याकरण ग्रन्थ हैं। इन शिक्षा ग्रन्थों का प्राचीन उल्लेख तत्तिरीय उपनिषद् (1–2) में मिलता है, जहाँ इनके छः अंग बतलाये गये हैं – वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान।

संहितापाठ व पदपाठ शिक्षाग्रन्थों के ही आविष्कार हैं। इस तरह यह तथ्य स्पष्ट होता है कि यज्ञ में मंत्रों का उच्चारण ठीक ढ़ंग से हो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा ग्रन्थों का आविष्कार किया गया था।

प्रातिशाख्य ग्रन्थ शिक्षा नामक वेदांग की ही कोटि में आते हैं। वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इन ग्रन्थों को प्रातिशाख्य कहा जाता है। इन ग्रन्थों में संहितापाठ से पदपाठ बनाने संन्धियों, ध्वनि नियमों आदि की विस्तृत चर्चायें प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य

आश्वलायन के गुरू शौनक द्वारा प्रणीत है। यह पद्यात्मक सूत्र में निबद्य है। तैत्तिरीय संहिता का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य है। कात्यायन मुनि द्वारा विरचित वाजसनेयि संहिता का वाजसनेयि प्रातिशाख्य उपलब्ध होता है। अथर्ववेद का एक अथर्वप्रातिशाख्यसूत्र उपलब्ध होता है। ये प्रातिशाख्य ग्रन्थ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि प्रथमतः ये संस्कृत व्याकरण के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं और द्वितीय प्रातिशाख्यों के ही कारण हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी संहिताओं में थोड़ा भी अन्तर नही पड़ा।

ये शिक्षा ग्रन्थ अनेक हैं, कुछ प्रकाशित तो कुछ अप्रकाशित। शिक्षा ग्रन्थों में पाणिनीय शिक्षा का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। कात्यायनी, माध्यन्दिनी, याज्ञवल्क्य, पाराशरी, वशिष्टी, माण्डव्य, हिरण्यकेशी, अमोघनन्दिनी नारदीय आदि शिक्षायें भी शिक्षा ग्रन्थों की श्री बृद्धि करती हैं। शिक्षा – संग्रह नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है, जिसमें अनेक शिक्षाओं का संकलन किया गया है, जो कई अनुपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है।

कल्प –

कर्मकाण्डपरक ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा जब यज्ञीय कार्यों का संचालन दुरूह प्रतीत होने लगा तब धीरे – धीरे कल्पसूत्रों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी कारण इस नयी शैली का आविष्कार हुआ। वेदों में विहित कर्मों का आनुपूर्वी ढंग से कल्पना करने वाला शास्त्र ही कल्प कहलाता है – *"कल्पोवेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्।"* कल्प को वेद पुरूष का हाथ बतलाया गया है – *"हस्तो कल्पोऽथ पठ्यते।"* यज्ञीय कृत्यों के सम्पादन करने के ही कारण इन्हें हाँथों के समान बतलाया गया है। कल्पसूत्रों के चार विभाग किये जाते हैं – श्रौतसूत्र, गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र व शुल्वसूत्र।

श्रुति प्रतिपादित बड़े – बड़े यज्ञों का विधान श्रौतसूत्रों में किया गया है।ये यज्ञ हैं– दर्शपौर्णमास, पिण्ड पितृ, निरूढ़पशु, सोम चातुर्मासादि। ये सूत्र ऋत्विकों के लिए निर्मित किये गये हैं। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि ये श्रौतसूत्र धार्मिक इतिहास के अन्तर्गत यज्ञानुष्ठानों के लिए विशेष उपादेय हैं।

गृह्याग्नि में होने वाले यज्ञों व संस्कारों के वर्णन गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होते हैं। इनके रीति व उपचार का वर्णन ही गृह्यसूत्रों का मुख्य उद्देश्य हैं। संस्कारों के सम्बन्ध में तत्कालीन आचार, नियमों का अवलोकन करने से भारतीय पवित्रता की श्रृंखला का परिचय मिलता

है। इनमें पंचमहायज्ञों को प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य रूपेण प्रतिपादित किया गया है। इनमें श्राद्धों के भी विस्तृत वर्णन उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार गृह्यसूत्रों में समाजशास्त्र व जातिशास्त्र सम्बन्धी तत्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

धर्मसूत्र गृह्यसूत्रों की ही एक कड़ी रूप में हैं। इनमें धार्मिक नियमों तथा राजा एवं प्रजा के कर्तव्यों के वर्णन उपलब्ध होते है। इन्हीं धर्मसूत्रों के ही आधार पर आगे चलकर स्मृतियों का विकास हुआ।

चतुर्थ स्थान में शुल्वसूत्र है। शुल्व का अर्थ है – नापने की रस्सी। यज्ञ वेदि को नापकर निर्मित करने का विधान इस सूत्र में किया गया है। इन शुल्वसूत्रों का सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है, क्योंकि ये भी यज्ञानुष्ठान के एक भाग की पूर्ति करते हैं। ये शुल्वसूत्र भारतीय ज्यामिति शास्त्र के आधारभूत स्तम्भ ग्रन्थ हैं।

व्याकरण –

व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ है शब्द व्युत्पत्ति को बतलाने वाला शास्त्र – *"व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति।"* व्याकरण को वेद पुरूष का मुख माना जाता है – *"मुखं व्याकरणं स्मृतम्।"* मुख होने के कारण ही वेदांगों में इसकी मुख्यता है। व्याकरण सम्बन्धी प्राचीन सूत्र ग्रन्थ तो नष्टप्राय ही हैं। उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर आरण्यकों में जो व्याकरण सम्बन्धी पारिभाषिक नियम हैं वही व्याकरण के प्राचीन श्रोत हैं। ऋग्वेद संहिता के एक सुप्रसिद्ध मंत्र में व्याकरण का एक विचित्र वृषभ के रूप में वर्णन किया गया है। व्याकरण को कामनाओं की पूर्ति करने के कारण ही वृषभ रूप में परिकल्पना की गयी है। इस व्याकरण वृषभ के चार सींग हैं– नाम, अख्यात, उपसर्ग व निपात। वर्तमान, भूत और भविष्य में तीन काल ही इसके तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् इसके दो सिर है। सातों विभक्तियॉ इसके सात हॉथ हैं। उर, कण्ठ व सिर इन तीन स्थानों में बॅधा हुआ है। यह महान देवता है जो मनुष्यों में प्रवेश किये हुए है। –

"चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासों अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यॉं आविवेश।।"

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में ही व्याकरणज्ञ व अव्याकरणज्ञ का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढ़ंग से किया गया है। अव्याकरणज्ञ वाणी को देखता हुआ भी नही देखता, सुनता हुआ भी नही सुनता, लेकिन व्याकरणज्ञ के लिए वाणी अपने स्वरूप को उसी प्रकार प्रदर्शित करती है जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रों

से युक्त कामिनी अपने पति के सामने स्वतः को समर्पित कर देती है –

"उतत्व पश्यन् न ददर्श वाचम् उत त्व श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेय पत्य उशती सुवासाः।।"

सर्वप्राचीन व्याकरण ग्रन्थ कौन सा है ? इसका समुचित समाधान आज तक नही हो पाया है। ऐसी मान्यता है कि सर्व प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ "ऐन्द्र व्याकरण" है, जिसकी सत्ता का उल्लेख प्राप्त होता है। महर्षि शाकटायन का अभिमत है कि व्याकरण का सर्वप्रथम उपदेश ब्राह्मा ने वृहस्पति से किया। वृहस्पति ने इन्द्र से, इन्द्र ने भरद्वाज से, भरद्वाज ने ऋषियों से और ऋषियों ने ब्राह्मणों से। ऐसी मान्यता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में वाणी व्याकरण रहित थी। व्याकरण का प्रणयन भगवान इन्द्र ने किया। इसी सन्दर्भ में पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है कि –

"बृहस्पतिश्च वक्ता। इन्द्रश्य अध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। अन्तं च न जगाम।"

माहेश्वर व्याकरण को समुद्र के समान विस्तृत बतलाया गया है। बृहस्पति का व्याकरण आधे घड़े जल के समान था, इसके चतुर्थांश का शतांश इन्द्र व्याकरण में विद्यमान था। पाणिनि व्याकरण तो कुश के नोंक से गिरने वाले जलबिन्दु के ही समान था। अब इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि वेद के इस अंग का प्रतिनिधि ग्रन्थ कौन है ? वैसे तो इस सन्दर्भ में ऐन्द्र व्याकरण की चर्चा होती है, लेकिन उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों में पाणिनि व्याकरण ही सर्वप्राचीन है। प्रबल पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह बात स्पष्ट होती है कि 'ऐन्द्र व्याकरण' सर्वप्राचीन तो था लेकिन वह काल कवलित हो गया, लेकिन पाणिनि व्याकरण को आज के परिप्रेक्ष्य में इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ मानना ही उचित होगा।

निरूक्त –

वैदिक शब्दों के संग्रह ग्रन्थ को 'निघण्टु' कहते हैं। विद्वानों का यह अभिमत है कि प्रजापति कश्यप ने वेद के अनेकार्थक, एकार्थक तथा दुरूह शब्दों को संग्रहीत किया और उसी पर यास्क मुनि ने भाष्य लिखा, जिसे निरूक्त नाम से पुकारा जाता है। कुछ विद्वान यास्क को ही निघण्टु का भी कर्ता मानते हैं, परन्तु यदि हम प्राचीन परम्पराओं का अध्ययन करें तो यह तथ्य प्रमाणित नही होता है।

निरूक्त का काल निघण्टु के पश्चात् ही आता है। दुर्गाचार्य की सम्मति में निरूक्त की संख्या 14 थी, परन्तु आजकल केवल यास्क का ही निरूक्त उपलब्ध होता है। यास्क के

निरूक्त में बारह निरूक्तकारों के नामों व मतों का उल्लेख किया गया है, तेरहवें निरूक्तकार स्वयं यास्क थे। चौदहवाँ निरूक्तकार कौन था ? इस प्रश्न का उत्तर अभी तक नही मिल पाया है।

निरूक्त को परिभाषित करते हुए सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में लिखा है कि *"अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्।"* अर्थात् जिसमें अर्थबोध के लिए अन्य शास्त्र की अपेक्षा के बिना ही पद समूह का कथन किया जाता है उसे निरूक्त कहते है। यास्क मुनि ने "तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्यम्" कहकर निरूक्त को व्याकरण की पूर्णता के पद पर प्रतिष्ठित किया है। निरूक्त के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में कहा गया है कि –

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।

धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरूक्तम्।"

अर्थात वर्णागम्, वर्णाविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश, धात्वर्थ सम्बन्ध, इन पाँच कार्यों से युक्त शास्त्र को निरूक्त कहते हैं।

यास्क विरचित निरूक्त में बारह अध्याय हैं। अन्तिम दो परिशिष्टाध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में चौदह अध्याय हुए। इसमें निघण्टु के तीनों काण्डों नैघण्टुक, नैगम तथा दैवत के ऊपर भाष्य है।

निरूक्त के ऊपर दुर्गाचार्य, स्कन्दमहेश्वर व वररूचि की टीकायें उपलब्ध होती हैं। दुर्गाचार्य प्राचीन टीकाकार हैं, आद्य टीकाकार नही, क्योंकि इन्होंने अपनी वृत्ति में प्रचीन टीकाकारों की व्याख्याओं व स्थानों का उल्लेख किया है। दैववशात् उन प्राचीन टीकाकारों की टीकायें आज अप्राप्य हैं।

छन्द –

छदि आच्छादने धातु से छन्द शब्द निष्पन्न हुआ है। मन्त्रों का आच्छादन करने से इन्हें छन्द कहा जाता है। छन्द को वेदपुरूष का पैर कहा गया है – *"छन्दः पादौ तु वेदस्य।"* वेद मंत्रों के उच्चारण एवं अर्थज्ञान के लिए छन्दों की नितान्त आवश्यकता होती है। सामवेद का 'निदानसूत्र' प्रधानरूपेण छन्दों का ही प्रतिपादन करता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यज्ञ सम्बन्धी विशिष्ट छन्दों का यथास्थान निर्देश किया गया है। छन्द ज्ञान के बिना किया गया यज्ञादि कार्य फल रहित हो जाते है और कर्त्ता को पाप का भागी बना देते है – *"यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति वा मीयते पापीयवान् भवति।"*

इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ पिंङ्गलाचार्य का 'छन्दः सूत्र' है। इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य पिंङ्गल के काल का निर्धारण अभी तक नही हो पाया है। इस ग्रन्थ में कुल आठ अध्याय है, जिनमें प्रारम्भ से चौथे अध्याय के सातवें सूत्र तक वैदिक छन्दों का उल्लेख किया गया है। शेष ग्रन्थ भाग में लौकिक छन्दों का उल्लेख है।

वैदिक छन्दों की विशेषता है कि ये अक्षर गणना पर निर्भर हैं। इसीलिए कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' में कहा है कि – *"यदक्षर परिमाणं तच्छन्दः"*। कुछ वैदिक छन्द इस प्रकार है–

गायत्री –

'त्रिपदा गायत्री' कथन से स्पष्ट है कि गायत्री छन्द में तीन पाद होते हैं, परन्तु यह गायत्री छन्द एक पाद से लेकर पाँच पाद तक भी होता है। सामान्यतया आठ–आठ अक्षरों वाला तीन पाद ही मुख्य रूप से सर्वत्र वर्ण्य है, परन्तु जब तीनों पादों में एक वर्ण न्यून होता है तो वह निचृत् गायत्री कहलाता है। जब तीनों पादों में क्रमशः 6+7+8 अक्षर हों तो वह वर्धमाना गायत्री कहलाता है। जब तीनों पादों में क्रमशः 8+7 व 6 अक्षर हो तो वह छन्द प्रतिष्ठा गायत्री कहलाता है। जब तीनों में क्रमशः 7+10+7 अक्षर हो तो वह यवमध्या गायत्री कंहलाता है। जब क्रमशः 9+6+9 अक्षर हो तो पिपिलिकामध्या गायत्री कहलाता है।

उष्णिक् –

यह भी तीन पादों वाला छन्द होता है तथा इसमें कुल अट्ठाइस अक्षर होते है। जब 12+8+8 अक्षर क्रमशः हो तो वह पुरउष्णिक् छन्द कहलाता है। जब 8+12+8 अक्षर क्रमशः हो तो वह ककुबुष्णिक् छन्द कहलाता है। जब 8+8+12 अक्षर क्रमशः तीनों पादों में हो तो पदोष्णिक अथवाउष्णिक् छन्द कहलाता है। जब 11+6+11 वर्ण क्रमशः तीनों पादों में हो तो पिपिलिकामध्या उष्णिक् छन्द कहलाता है।

अनुष्टुप् –

इस छन्द में चार पाद होते हैं तथा प्रत्येक पाद में आठ–आठ अक्षर होते हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण छन्द में 32 अक्षर होते हैं, परन्तु वैदिक सांहित्य में त्रिपाद अनुष्टुप् भी मिलते है। जब तीनों पादों में क्रमशः 10+10+10 हो तो वह विराड् अनुष्टुप् होता है।

बृहती –

इसमें चार पाद होते हैं तथा चारों पादों में कुल मिलाकर 36 अक्षर होते हैं। इसमें

भी अनेक भेद हैं जैसे – जब चारों पादों में क्रमशः 12+8+8+8 अक्षर होते हैं तो उसे पुरस्ताद् बृहती छन्द कहते हैं। जब चारों पादों में क्रमशः 8+12+8+8 अक्षर होते हैं तो उसे उरो बृहती छन्द कहते हैं। जब चारों पादों में क्रमशः 8+8+12+8 अक्षर होते है तो उसे पथ्याबृहती छन्द कहते हैं। जब चारों पादों में क्रमशः 8+8+8+12 अक्षर होते हैं तो उसे उपरिष्टात् बृहती कहते हैं। जब बृहती छन्द तीन पादों वाला हो व प्रत्येक में 12–12 अक्षर हो तो उसे सतो बृहती छन्द कहते हैं।

पंक्ति छन्द –

बृहती से चार अक्षरों का आधिक्य पंक्ति कहलाता है। इसमें प्रायः चार पाद होते हैं। चार पादों को मिलाकर कुल चालीस अक्षर होते हैं। पाँच पादों वाला पंक्ति छन्द वैदिक साहित्य में है परन्तु ये संख्या में बहुत ही कम हैं। इसके भेदों को इस प्रकार संक्षिप्त रूप से प्रदर्शित किया जा सकता है – जब चारों पादों में क्रमशः 10+10+10+10 अक्षर हो तो उसे विराट् पंक्ति कहते हैं। जब चारों में क्रमशः 12+8+12+8 अक्षर हो तो उसे सतो बृहती पंक्ति कहते हैं। जब 8+12+8+12 का क्रम हो तो उसे विपरीता पंक्ति कहते हैं। जब 8+8+12+12 अक्षर क्रमशः हो तो उसे आस्तार पंक्ति कहते हैं। जहाँ 12+10+8+8 अक्षर हो तो उसे प्रस्तार पंक्ति कहते हैं। जब 12+8+8+12 अक्षर क्रमशः हो तो उसे संस्तार पंक्ति कहते हैं। 8+12+12+8 अक्षर क्रमशः अवस्थित हों तो उसे विष्टार पंक्ति कहते हैं। जब आठ – आठ अक्षरों को पाँच पाद हो तो उसे पंक्ति या पथ्या पंक्ति के नाम से वैदिक जगत में जाना जाता है।

त्रिष्टुप् –

इसमें सामान्यतया चार पाद व 44 अक्षर होते हैं। जब 10+10+12+12 अक्षर क्रमशः हों तो उसे अभिसारिणी त्रिष्टुप् कहते हैं। जब पाँच पादों में क्रमशः 12+8+8+8+8 अक्षर हों तो उसे महाबृहती त्रिष्टुप् कहते हैं। जब पाँचों पादों में क्रमशः 8+8+12+8+8 अक्षर हों तो उसे यवमध्या त्रिष्टुप् कहते हैं।

जगती –

जिसमें सामान्यतया चार पाद व प्रत्येक बाद में क्रमशः 12 अक्षर होते हैं। जब 12+12+11+11 अक्षर क्रमशः हों तो उसे उपजगती कहते हैं। जब तीन पादों में आठ – आठ अक्षर तथा दो पादों में बारह – बारह अक्षर हो तो उसे महासतो बृहती जगती कहते हैं। जब आठ – आठ अक्षरों के छः बाद हों तो उसे महापंक्ति जगती छन्द कहते हैं।

ज्योतिष –

ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन यज्ञों का विधान किया गया है, उनके लिए ऋतुओं, तिथियों, नक्षत्रों के अतिरिक्त विभिन्न समयों के निर्देश दिये गये हैं, जिनका ज्ञान ज्योतिष द्वारा ही सम्भव होता है। ज्योतिष से हम उचित काल का निर्धारण करते हैं, अर्थात् समय को देखते हैं। देखने का कार्य आँखों से ही सम्भव होता है इस लिए ज्योतिष को वेद पुरूष का चक्षु कहा गया है– "ज्योतिषामयनं चक्षुः"। इसी तात्पर्य से वेदांग ज्योतिष नामक ग्रन्थ यह उद्‌घोषित करता है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को भली भाँति जानता है, वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है।

"वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।

तस्मादिदं कालविधानं शास्त्रं यो ज्योतिषं वेद सा वेद यज्ञम्।।"

'सिद्धान्तशिरोमणि' मे भाष्कराचार्य का भी अभिमत है –

"वेदास्तावद् यज्ञकर्म प्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।

शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदांगत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्यात्।।"

वेदांग ज्योतिष में गणित की प्रशंसा में कहा गया है कि –

"यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।

तद्वद वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।।"

वेदांग ज्योतिष के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में दो वेदो से दो ज्योतिष प्रस्तुत किये गये है – ऋग्वेद से सम्बन्ध रखने वाले ज्योतिष को आर्च ज्योतिष तथा यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले ज्योतिष को याजुष् ज्योतिष। आर्च ज्योतिष में 36 श्लोक तथा याजुष ज्योतिष में 42 श्लोक उपलब्ध होते है। इनमें बहुत से श्लोकों का रहस्यार्थ आज भी विद्वानों के लिए समस्या ही है।

वेदांग ज्योतिष के कर्ता लगध थे। ये कौन थे ? इनका आविर्भाव काल क्या था ? इन समस्याओं का समाधान आज तक भी नही हो पाया है।

गृह्यसूत्र –

गृहस्थाश्रम की आचार संहिता का विशद एवं महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन करने वाले गृह्यसूत्रों की लोक जीवन में सर्वाधिक महत्ता एवं उपयोगिता देखी जाती है। मानव के व्यक्तित्व का विकास उसके संस्कारों पर ही बहुत कुछ आश्रित हैं। ये संस्कार गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त शास्त्रोक्त विधि से सम्पादित किये जाते हैं। संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ

धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इन संस्कारों की विधियों उनके समय तथा कर्तव्य आदि को गृह्यसूत्रों में बड़े ही विवेचन के साथ प्रस्तुत किया गया है। वैदिक मंत्रों के विनियोग तथा उनकी उपयोगिता का जीवन में कितना आवश्यक योगदान'सम्भव है – यह सब गृह्यसूत्रों में भली भाँति प्रमाणित है। भारतीय गृहस्थ जीवन की पवित्रता तथा दैविक बल के प्रति पूर्ण आस्था का स्वरूप कर्मकाण्ड के माध्यम से इन गृह्यसूत्रों में व्यवस्थित रूप से अभिव्यक्त किया गया है। ऐतिहासिक परम्परा में जब गृह्यसूत्रों का अध्ययन करते हैं तो निम्न गृह्यसूत्रों का उल्लेख प्राप्त होते हैं –

आश्वलायन गृह्यसूत्र –

जैसा कि नाम से प्रसिद्ध है, ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इस गृह्यसूत्र का नाम भी आश्वलायन ही रखा गया। इस गृह्यसूत्र में कुल चार अध्याय हैं। अध्यायों का विभाजन खण्डों में किया गया है। गृह्याग्नि में होने वाले विविध यज्ञों, संस्कारों आदि के विवेचन बड़े अच्छे ढंग से इसमें किये गये हैं। ऋषितर्पण के प्रसंग में प्राचीन आचार्यों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं, जो अन्य किसी भी गृह्यसूत्र में नही मिलता। तीसरे अध्याय के दूसरे खण्ड में वेदाध्ययन के विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन किया गया है। चौथे खण्ड में श्रावणी कर्म का विवेचन भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस गृह्यसूत्र पर जयन्त स्वामी की 'विमलोदयमाला', देवस्वामी का भाष्य, नारायण की टीका, हरदत्त की 'अनाविला' टीका, आदि टीकायें इसकी विपुल विश्रुति के परिचायक हैं। आश्वालायन गृह्यसूत्र को अनेक ग्रन्थकारों ने कारिकाबद्ध भी किया, जिसकी प्रसिद्धि 'आश्वालायन गृह्यसूत्र कारिका' नाम से है।

शांखायन गृह्यसूत्र –

यह गृह्यसूत्र ऋग्वेद की शांखायन शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इस नाम से विख्यात है। इसकी रचना आश्वलायन गृह्यसूत्र के बाद हुयी। इसमें कुल छः अध्याय हैं, जिनमें चार अध्याय ही मौलिक है। इसके विषय आश्वलायन के ही हैं। संस्कारों का वर्णन करते समय तत्सम्बद्ध गृहनिर्माण, गृहप्रवेश आदि विषयों के भी स्थान – स्थान पर वर्णन उपलब्ध होते है।

कौषीतक गृह्यसूत्र –

ऋग्वेद की कौषीतकि शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इस गृह्यसूत्र को कौषीतक गृह्यसूत्र कहते हैं। बहुत दिनों तक विद्वानों में यह धारणा प्रचलित थी कि शांखायन और

कौषीतकि एक शाखा के दो नाम है, परन्तु कौषीतकि शाखा शांखायन से सर्वदा भिन्न है। कौषीतक गृह्यसूत्र तो अभी तक अप्रकाशित है, लेकिन शांखायन गृह्यसूत्र मद्रास से प्रकाशित हो चुका है। इस गृह्यसूत्र में पाँच अध्याय हैं। इसमें उपनयन संस्कार का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। वैश्वदेव कृषि कर्म व श्राद्ध के वर्णन विशेषोल्लेखनीय हैं।

बौधायन गृह्यसूत्र –

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित यह गृह्यसूत्र है। इस गृह्यसूत्र के चार अध्याय हैं, जिसका नामकरण इस प्रकार है – गृह्यसूत्र, गृह्यपरिभाषासूत्र, गृह्यशेषसूत्र तथा पितृमेघ सूत्र। इसका प्रत्येक भाग प्रश्नों में विभक्त है। कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में यह सर्वप्राचीन है। इसमें संस्कारों का वर्णन विवाह से शुरू होता है। इसके अन्त में पितृमेघ व अन्त्येष्टि का वर्णन है।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र –

यह गृह्यसूत्र भी कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा से ही सम्बन्धित है। इसमें कुल खण्डों की संख्या 30 है। संस्कारों के वर्णनोंपरान्त ग्रह ग्रसित बच्चे के ग्रहनिवारणार्थ किए जाने वाले विधिविधानों का सुन्दर वर्णन किया गया है।

भारद्वाज गृह्यसूत्र –

यह कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धि गृह्यसूत्र है। यह गृह्यसूत्र आपस्तम्ब गृह्यसूत्र से अधिक साम्य रखता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन प्रश्नों में विभक्त है, तथा प्रत्येक प्रश्न कई खण्डों में विभक्त है। उपनयन संस्कार के वर्णन से इस गृह्यसूत्र का श्रीगणेश होता है।

हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र –

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का यह पाचवाँ गृह्यसूत्र है। यह गृह्यसूत्र आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के ज्यादा निकट है। इस गृह्यसूत्र का एक दूसरा भी नाम उपलब्ध होता है– सत्याषाढ़ गृह्यसूत्र । इस गृह्यसूत्र का विभाजन तीन स्तरों पर किया गया है, जैसे – सम्पूर्ण गृह्यसूत्र, दो प्रश्नों में विभक्त है, प्रश्न अनेक पटलों में तथा पटल अनेक खण्डों में विभक्त है।

वैखानस गृह्यसूत्र –

तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित यह गृह्यसूत्र अवान्तरकालीन प्रतीत होता है। इस गृह्यसूत्र के अन्तिम भाग में इसी नाम से एक धर्मसूत्र भी संयुक्त कर दिया गया है। वैखानसों

के धर्म, भेद व लक्षणों का विशेष रूप से वर्णन करने के कारण इस गृह्यसूत्र का यह नाम करण किया गया। डॉ0 कैलेण्ड ने इसका एक अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया है। इसके प्रारम्भ में नित्य कर्म एवं उपनयनादि संस्कारों के वर्णन हैं तथा अन्त में प्रायश्चितों एवं अन्त्येष्टि क्रिया का वर्णन किया गया है। इस गृह्यसूत्र का विभाजन प्रश्नों में व प्रश्नों का विभाजन खण्डों में किया गया है।

मानव गृह्यसूत्र -

इसका दूसरा नाम मैत्रायणीय गृह्यसूत्र भी है। भारद्वाज गृह्यसूत्र के बाद इसकी गणना विद्वानों द्वारा की जाती है। इस गृह्यसूत्र में दो पुरूष या प्रकरण हैं तथा पुरूष में अनके कण्डिकायें हैं। इसमें विनायक पूजा का विशिष्ट वर्णन किया गया है। विद्वानों ने इसके लेखक का नाम मानवाचार्य बतलाया है। अष्टावक्र के भाष्य के साथ यह ग्रन्थ बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है।

काठक गृह्यसूत्र -

कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इस गृह्यसूत्र को काठक गृह्यसूत्र के नाम से अभिहित किया गया है। इसी गृह्यसूत्र को 'लौगाक्षि गृह्यसूत्र' भी कहा जाता है। पाँच अध्यायों में विभक्त होने के कारण यह 'गृह्यपंचिका' के नाम से भी जाना जाता है। पाँच अध्यायों में कुल मिलाकर 73 कण्डिकायें हैं। इसके तीन टीकाकार हैं — आदित्यदर्शन, ब्राह्मणबल व देवपाल।

वाराह गृह्यसूत्र -

यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से सम्बन्धित है। इस गृह्यसूत्र में मैत्रायणी — संहिता के मंत्रों के विनियोग किये गये हैं। यह छोटा गृह्यसूत्र है, इसमें कुल 21 खण्ड हैं, जिनमें संस्कारों का वर्णन ही मुख्यतया किया गया है। इसके बहुत से सूत्र काठक तथा मानव गृह्यसूत्र के ही समान है।

पारस्कर गृह्यसूत्र -

शुक्लयजुर्वेद का यह एकमात्र गृह्यसूत्र है। अपनी वर्णन शैली के आधार पर ही यह गृह्यसूत्र सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में प्रसिद्धि प्राप्त है। इसमें कुल मिलाकर तीन काण्ड हैं, जिसमें प्रथम काण्ड में आवसथ्य अग्नि का आधान, विवाह तथा गर्भाधान से लेकर अन्नप्रासन तक के संस्कार वर्णित हैं। द्वितीय काण्ड में चूड़ाकरण, उपनयन, समावर्तन, पंचमहायज्ञ, श्रवणाकर्म, सीतायज्ञ के

विवरण हैं। अन्तिम काण्ड में श्राद्ध के बाद प्रायश्चितों आदि की विधियों का प्रतिपादन किया गया है। इसके कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर तथा विश्वनाथ – पाँच भाष्यकार हैं।

गोभिल गृह्यसूत्र –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों का यह सर्वाधिक ख्यातिलभ्य गृह्यसूत्र है। यह सामवेद के कौथुम शाखा से सम्बन्धित है। सामवेद संहिता के मंत्रों के विनियोग के साथ ही साथ इसमें सर्वाधिक 'मन्त्रब्राह्मण' नामक सामवेदीय मंत्रसग्रहात्मक ग्रन्थ से मंत्रों का विनियोग किया है। यह सम्पूर्ण गृह्यसूत्र चार प्रपाणकों में विभक्त है। तथा प्रत्येक प्रपाणक में दस–दस कण्डिकायें है, केवल प्रथम प्रष्ठक में ही नव कण्डिकायें हैं।

खादिर व द्राह्यायण गृह्यसूत्र –

ये दोनों गृह्यसूत्र सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्धित हैं। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इन दोनों गृह्यसूत्रों में पूर्ण साम्यता है। इन दोनों गृह्यसूत्रों में कुल चार पटल हैं, तथा प्रत्येक पटल में पॉच – पॉच खण्ड हैं, केवल चौथे पटल में चार ही पटल हैं। इन दोनो गृह्यसूत्रों ने संस्कारों में विवाह को ही प्रथम वरीयता दी गयी है। ये दोनो गृह्यसूत्र गोभिल गृह्यसूत्र पर पूर्णतया आधारित हैं।

जैमिनि गृह्यसूत्र –

यह गृह्यसूत्र सामवेद की जैमिनि शाखा से सम्बन्धित है। यह दो खण्डों में विभक्त है, प्रथम खण्ड में चौबीस कण्डिकायें है और द्वितीय में नव। पाकयज्ञतंत्र से इसका प्रारम्भ होता है। संस्कारों में सर्वप्रथम पुंसवन वर्णन इस गृह्यसूत्र में किया गया है। इसकी सुबोधिनी टीका श्री निवासाध्वरी के द्वारा निर्मित है। पुरूष सूक्त की सात ऋचाये ही इसमें उल्लिखित हैं, जो सामवेदानुसार हैं।

कौशिक गृह्यसूत्र –

यह अथर्ववेद का एक मात्र गृह्यसूत्र है। यह गृह्यसूत्र 14 अध्यायों में विभक्त है। इस पर अनेक टीकायें भी लिखी गयी हैं जिनमें हारिल तथा केशव की संक्षिप्त व्याख्यायें प्रमुख हैं। इसमे जादू टोनों का अनुपम सामन्जस्य दृष्टिगोचर होता है। यह गृह्यसूत्र औषिधियों की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

गृह्यसूत्रों का समय निर्धारण –

गृह्यसूत्रों के समय निर्धारण के सन्दर्भ में कोई भी ठोस प्रमाण आज तक नही मिल पाया है जिसके आधार पर कोई काल निश्चित किया जा सके। पाश्चात्य आलोचकों ने इस सन्दर्भ में कुछ अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं जिनके आधार पर हम अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं –

गृह्यसूत्रों का सूत्रात्मक रूप ब्राह्मण व आरण्यक ग्रन्थों में मिलता है। जिससे स्पष्ट होता है कि ये अतिप्राचीन हैं। ब्राह्मणों की रूढ़िता, आदर्शवाद व आडम्बरादि से लोगों की आस्था धीरे – धीरे कम होने लगी। ब्राह्मणों के आधार पर किये जाने वाले यज्ञों में जीवों की निर्मम हत्या होने लगी, अतः सूत्रग्रन्थों का प्रणयन इनके प्रतिकार स्वरूप ही हुआ। 'ए हिन्दी ऑफ संस्कृत लिट्लेचर' में मैक्डानल ने गृह्यसूत्रों का समय 500 – 200 ई0 पूर्व माना है। अपने मत के समर्थन में इनके कथन का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है – 'सूत्रों का सर्वप्राचीन काल बौद्धधर्म के अस्तित्व के आने में पूर्व का है। वस्तुतः यह सम्भव है कि प्रतिस्पर्धी धर्म का उत्थान ब्राह्मण ग्रन्थ समर्थित अश्वपूजा के क्रमबद्ध निर्माण को प्रथम प्रेरणा प्रदान की। बौद्धधर्म इस बात को स्वीकार करता है कि सूत्र धार्मिक सैद्धान्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति करण के लिए उत्तम ग्रन्थ है।'

भाषा वैज्ञानिकों का इस सम्बन्ध में अभिमत है कि गृह्यसूत्र पाणिनि के काल से पूर्णतया जुड़े हुए हैं, कुछ गृह्यसूत्र तो पाणिनि से पहले के हैं। इस आधार पर भी गृह्यसूत्रों का समय 500 – 200 ई0 पू0 के आस पास ही माना जा सकता है।

मैक्समूलर ने गृह्यसूत्रों का समय 600 – 200 ई0पू0 माना है। विद्वानगण इस समय निर्धारण से पूर्णतया सहमत नही है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र 3/4/4 में ऋग्वेदीय ऋषियों के नामोलेख हैं तथा महाभारत में प्रत्येक का नाम उद्धृत किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ये गृह्यसूत्र महाभारत के बाद के हैं। बौधायन गृह्यसूत्र में 'विष्णुसहस्रनाम' का उल्लेख तथा भगवद्गीता का एक श्लोक उद्धृत है। विद्वानों ने महाभारत का काल 600 ई0पू0 माना है अतः गृह्यसूत्र 500 – 400 ई0पू0 के बीच के ही प्रतीत होते हैं।

भारतीय विचारक चिन्तामणि विनायक ने गृह्यसूत्रों को 1200 ई0पू0 का माना है जो

ठोस आधार न होने के कारण विद्वानों द्वारा मान्य नही है।

इन विचारों का अवलोकन करने से यह तथ्य खुलकर सामने आता है कि कुछ गृह्यसूत्र तो प्राचीनकालीन है और कुछ अर्वाचीन। बाद वाले गृह्यसूत्रों में ही महाभारतादि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। थोड़े ही आधार पर सम्पूर्ण सूत्र साहित्य को अर्वाचीन मान लेना न्याय नही है। अतः गृह्यसूत्रों का काल निर्धारण आज भी दोलायमान है।

भाषा शैली -

सूत्र को परिभाषित करते हुए व्याकरणज्ञों ने कहा है कि –

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।

अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदोविदुः।।"

अर्थात् सूत्रविदों द्वारा बतलाये गये अल्पाक्षर युक्त, सन्देहराहित्यादि लक्षण ही गृह्यसूत्रों की भाषा के वैशिष्ट्य हैं। गृह्यसूत्र गद्यों में निबद्ध है। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे बीच – बीच में श्लोकों का आश्रय लेते हैं। ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्दों व यज्ञपात्रों आदि के कारण इनमें काठिन्य भी दृष्टिगोचर होता है।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों की विशेषतायें -

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में प्राचीन भारत के स्मरण का सत्य चित्र प्रस्तुत किया गया है। भारतीयों के प्राचीन संस्कृति के अवलोकनार्थ इन गृह्यसूत्रों का अध्ययन परमावश्यक हो जाता है। भारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है और उसकी प्राप्ति के लिए ये गृह्यसूत्र मार्ग प्रशस्त करते हैं।

ब्राह्मण व आरण्यक ग्रन्थों में जिन यज्ञ यज्ञादि का प्रतिपादन जटिल ढ़ंग से किया गया है उनकों सुगम प्रक्रिया में इस गृह्यसूत्रों में प्रस्तुत किया गया है।

ये सामवेदीय गृह्यसूत्र अपने समकालीन प्रचलनों संस्कारों आदि के उल्लेख के साथ ही साथ तत्कालीन सामाजिक क्रिया कलापों से भी हमें अवगत कराते हैं।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास इन चार आश्रमों में प्रारम्भिक दो आश्रमों के सन्दर्भ में विवेचन इन सामवेदीय गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता हैं।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों द्वारा वेदार्थ की व्याख्या समुचित ढ़ंग से की गयी है। यज्ञों के विशिष्ट नियमों का उल्लेख तो इनमें है ही साथ ही साथ इन गृह्यसूत्रों के द्वारा मंत्रों का विनियोग

का भी ज्ञान होता है। ऋक् तथा साम के मंत्रों को लेकर उनकी परस्पर संगति स्थापित करना भी इनका लक्ष्य प्रतीत होता है।

सन्ध्यावन्दन, समिदाहरण, गुरूचर्यादि क्रियाओं के द्वारा विद्यार्थियों के कर्ममय कठोर जीवन के वर्णन के द्वारा ये गृह्यसूत्र व्यक्ति को कर्म – मार्ग की तरफ प्रेरित करते हैं। इन गृह्यसूत्रों की यह अवधारणा है कि कर्म के द्वारा ही व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

भारतीय संस्कृति अनेक वैशिष्ट्यों से युक्त है, उनमें एक विशेषता है समन्वयवादिता। ये सामवेदीय गृह्यसूत्र इस समन्वयवादिता की भावना के पोषक हैं। पति–पत्नी, पिता–पुत्र, गुरू–शिष्य आदि के बीच समन्वय की भावना के पोषक हैं ये गृह्यसूत्र ।

ये गृह्यसूत्र पति–पत्नी के बीच अनन्य प्रेम का प्रणयन करते हैं, गृहस्थरूप नवीन संसार में इन दोनों का प्रवेश ब्रह्मचर्य रूपी तप के द्वारा परिनिष्ठित कर कराया जाता है।

अध्ययन सौकर्य की दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में सामवेदीय गृह्यसूत्रों के विभिन्न पक्षों अर्थात् वर्ण्य विषयों पर प्रकाश डाला गया है। गृह्यकर्मों का सांगोपांग प्रणयन सामवेदीय गृह्यसूत्र गोभिल में किया गया है, अन्य गृह्यसूत्र इन गृह्यकर्मों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रणीत करते हैं। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में संस्कारों के वर्णन के अतिरिक्त अग्न्याधान, दर्शपौर्णमासयज्ञ, वैश्वदेवबलि, उपाकर्म, अश्वयज्ञ, विभिन्न होम व जप, पिण्ड, श्राद्धकर्म, पंचव्रत, अनध्याय, प्रायश्चित, आग्रहाय णीकर्म, स्वस्तरारोहण अष्टका, वास्तुपति यज्ञ आदि विषयों पर विस्तृत प्रकाश डाले गयें हैं।

द्वितीय अध्याय में सामवेदीय गृह्यसूत्रों की भारतीय संस्कृति के समन्वयवादिता के भावना के पोषक के रूप में अध्ययन किया गया है जो इनकी महती विशिष्टता है। पति–पत्नी में समन्वय, पिता – पुत्र में समन्वय, गुरू शिष्य में समन्वय, ब्रह्मचर्य व गार्हस्थ में समन्वय, यजमान व पुरोहित में समन्वय, देवता व प्राण में समन्वय आदि विषयों पर प्रर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय में गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त मंत्र भागों की समीक्षा की गयी है। इसमें मंत्र शब्द के अर्थ, प्रकार, मंत्रोच्चारण के लिए आवश्यक निर्देश, मंत्रों द्वारा दीर्घायुप्राप्ति, सूर्य, अग्नि, वायु व जल के वैज्ञानिक स्वरूप की समीक्षा देवभिषक् अश्विनों का वर्णन, दिन में शयन का निषेध, मधुप्रशंसा व मंत्रों के वैज्ञानिक महत्त्व की समीक्षा आदि विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में संस्कारों की वैज्ञानिक समीक्षा की गयी है। संस्कार शब्द क्या है? स्वस्तिवाचन क्यों किया जाता है ? विभिन्न संस्कार विभिन्न विधियों से क्यों किये जाते हैं, इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

पंचम अध्याय में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में वर्णित गृह्यकर्मों के सन्दर्भ में अन्य समीक्षायें जैसे – स्वस्थ्यवृत्त व सद्वृत्त, व्याधियाँ, औषधि, व्याधियों का दूरीकरण पशुओं की आरोग्यता, यज्ञ का महत्त्व आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

मनुष्य कभी भी पूर्ण नही होता, यदि वह पूर्ण हो जाय तो ब्रह्म की कोटि में आ जाता है, इसलिए मानवकृत कार्य भी कभी पूर्णता की कोटि में नही आ सकते। इसलिए सुधीजन इस शोध प्रबन्ध में जहाँ कहीं भी त्रुटि अवलोकित करें उसे क्षमा करने की कृपा करें।

प्रथम अध्याय

सामवेदीय गृहयसूत्रों के विभिन्न पक्ष

सामवेदीय गृह्यसूत्रों के विभिन्न पक्ष

किसी भी ग्रन्थ के विभिन्न पक्ष उसके वर्ण्य विषय होते हैं। भूमिका में यह स्पष्ट किया गया है कि सामवेद के चार गृह्यसूत्र हैं – गोभिल गृह्यसूत्र, खादिर गृह्यसूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र व द्राह्यायण गृह्यसूत्र। इन चारों गृह्यसूत्रों में गोभिल गृह्यसूत्र ही प्रमुख है। खादिर व द्राह्यायण गृह्यसूत्रों में तो गोभिल का संक्षिप्तानुसरण ही है। इन चारों गृह्यसूत्रों के अध्ययनोपरान्त सामवेदीय गृह्यसूत्रों के विभिन्न पक्षों को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है –

यह सामान्य अवधारणा है कि कोई भी मनुष्य बिना किसी प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नही होता, अतएव यह प्रवृत्ति इस तथ्य का द्योतन करती है कि मानव स्वप्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने कर्मव्यापार में दत्तचित्त होकर अपने का रूपायित करता है। जब व्यक्ति सहभावत्व से भावित होकर कर्म में संलग्न होता है, तब वह धर्ममय, क्रिया व्यापार होता है, और यही मानव जीवन का आदर्श कर्म है। इसी से व्यक्ति को अपने जीवन के लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है।

भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया है – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इन चारों आश्रमों के कर्मों व उनके परिणाम भी अलग – अलग हैं। कर्म की अनेकानेक कोटियाँ निर्धारित की गयी हैं, जिनमें सत्कर्मों द्वारा ही अभ्युदय का प्रतिपादन किया गया है, इन अभ्युदयकारक कर्मों की प्रतिस्थापना सामवेदीय गृह्यसूत्रों में पर्याप्त रूपेण विद्यमान है।

अनिर्देशित विधानों का निर्देश –

गृह्यसूत्रों का मुख्य पक्ष है कर्मकाण्ड, और कर्मकाण्डों में मुख्य कर्मों के साथ सहकर्मो का प्रयोग भी किया जाता है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में मुख्यकर्मों के सहायक सहकर्मों का पूर्ण प्रतिज्ञा के माध्यम से ग्रन्थारंभ में ही कर दिया गया है जिनको इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है –

समय का निर्देश –

जिन सहकर्मों को प्रारम्भ करने के समय का विधान मूल में नही है, उन सहकर्मों के समय का निर्देश इन गृह्यसूत्रों में प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। इस सन्दर्भ में इन गृह्यसूत्रों का कथन है कि सामान्यतया सूर्य के उत्तरायण होने पर शुक्ल पक्ष में सुन्दर दिन में तथा दिन

के पूर्वाद्ध में ऐसे कर्मों का प्रतिपादन करना चाहिए –

"उद्गयने पूर्वपक्षे पुण्येऽहनि प्रागावर्तनादह्नः कालं विद्यात्"[1] *"उद्गयनपूर्वपक्षपुण्याहेषु प्रागावर्तनदह्नः कालो नादेशे।"*[2] यह समय निर्देश अनिर्दिष्ट विधानों के परिप्रेक्ष्य में ही है, किन्तु जिन कर्मकाण्डों के समय का निर्देश है उन्हें आदेशानुसार ही करना चाहिए।[3]

देवता का निर्देश –

जिन गृह्यकर्मों में देवता का निर्देश नही किया गया है, सामवेदीय गृह्यसूत्रों के अनुसार वहाँ प्रजापति को ही देवतारूप में मानकर उन – उन कर्मों कों सम्पादित करना चाहिए।[4] द्राह्यायण व खादिर गृह्यसूत्रों का इस सम्बन्ध में कथन है कि जिस देवता के लिए हवन किया जाता है उसी को उस कर्म का देवता मान लेना चाहिए।[5]

पदार्थों का निर्देश –

जिस होमीय कृत्य में यह स्पष्ट न किया गया हो कि होम किस पदार्थ से होना चाहिए वहाँ घृत को ही पदार्थ रूप में मान लेने की मान्यता सामवेदीय गृह्यसूत्रों की है।[6]

दिशाओं का निर्देश –

जिन गृह्यकर्मों में यह स्पष्ट नही किया गया है कि किस दिशा की तरफ मुख करके उसका विधान करे वहाँ पूर्व दिशा को ही आधार मानकर उस कृत्य का सम्पादन करना चाहिए।[7]

यज्ञोपवीत धारण व आचमन –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों की ऐसी अवधारणा है कि गृह्यकर्मों को प्रारम्भ करने के पहले यज्ञोपवीत धारण कर आचमन कर लेना चाहिए।[8]

---

1. *गो0 गृ0सू0 – प्र0प्र0प्र0 क0 सूत्र नं0 3*
2. *द्रा0गृ0सू0 तथा खा0गृ0सू0 – 1/1/2*
3. *"यथादेशश्च" + गो0गृ0सू0 1/1/4*
4. *गो0गृ0क0प्र0पृ0 – 5*
5. *"देवतामन्त्रानादेशे" – 2/2/16*
6. *"आज्यं जुहुयाद्हविषोऽनादेशे" – द्रा0गृ0सू0 – 2/2/15*
7. *"प्राङ्मुखस्य प्रतीपात्" द्रा0गृ0सू0 1/1/14*
8. *"यज्ञोपवीतम्" द्रा0गृ0सू0 1/1/4*

   "यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन कृत्यम्" – गो0गृ0सू0 1/1/2

हाँथ का निर्देश –

जिन गृह्यकर्मों में हस्त प्रयोग स्पष्टरूपेण कथित नही है, वहाँ दाहिने हाँथ का प्रयोग समझना चाहिए, ऐसी मान्यता सामवेदीय गृह्यसूत्रों की है।[1]

अनिवार्य प्राथमिक कृत्य –

कुछ ऐसे अनिवार्य प्राथमिक कृत्य हैं जो प्रत्येक कर्मकाण्ड के आरम्भ में किये जाते हैं। ऐसे कृत्यों में शिखाबन्धन, पावित्रीधारण व संकल्पादि हैं। सभी कृत्य आभ्युदयिकश्राद्ध और दक्षिणायुक्त होते हैं।[2]

विनियोग व स्वाहाकरण –

जिस मंत्र के अन्त का भाग ऐसा स्पष्ट न हो जिससे विनियोग व उसका परिणाम मालूम हो ऐसी अवस्था में उत्तर मंत्र के आदि भाग को लेकर विनियोग को ज्ञात करें या प्रधान मंत्र के अर्थ को समझकर उसके अनुसार विनियोग का ज्ञान करें।[3] होम करने के मंत्रों में जिन मंत्रों में 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग मंत्र पाठ में न हो तो भी ऐसे मंत्रों में 'स्वाहा' शब्द को जोड़कर होम करें।[4]

ब्राह्मण भोज –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों की ऐसी मान्यता है कि सभी गृह्यकर्मों के अन्त में ब्राह्मण को भोजन अवश्यमेव करावे। *"अपवर्गेऽभिरूप भोजनं यथाशक्ति"* [5]। *"अपवर्गे यथोत्साहं ब्राह्मणानाशयेत्।"* [6]

अग्निस्थापन –

होमीय गृह्यकर्मों में अग्निस्थापन अनिवार्य होता है। अग्निस्थापन को ही कर्मकाण्डीय भाषा में अग्न्याधान कहते हैं। इस अग्न्याधान को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है –1– अपूर्वाधान व 2– विच्छिन्नाधान। *"ब्रह्मचारी वेदमधीत्याऽन्तयां समिधमभ्याधास्यन"* [7] अर्थात् ब्रह्मचारी

---

1. *"दक्षिणेन पाणिना कृत्यमनादेशे" द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 1/1/17*
2. *"सर्वाण्येवान्वाहार्यवन्ति" गो0गृ0सू0 1/1/5*
3. *"मन्त्रान्तमव्यक्तं परस्यादि ग्रहणेन विधात्" – खा0गृ0सू0 व द्रा0गृ0सू0 – 1/1/18*
4. *"स्वाहान्ता मन्त्रा होमेषु" – द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 – 1/1/19*
5. *गो0गृ0सू0 – 1/1/6*
6. *द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 – 1/1/3*
7. *गो0गृ0सू0 – 1/1/7*

वेदाध्ययन समाप्त कर पश्चिम दिशा में समिधाओं को अग्नि में डालकर अग्नि स्थापन करे। उपनयनोपरान्त ब्रह्मचारी प्रातः व सायं काल में होम को *"ऊँ अग्नये समिधमहार्षम्"* [1] इस मंत्र द्वारा करता है यह क्रम समावर्तन संस्कार तक चलता है और इसे अपूर्वाधान की कोटि में रखा जाता है।

द्वितीय भेद 'विच्छिन्नाधान' का काल पाणिग्रहण संस्कार है। *"जायाया वा पाणि मेघृक्षन्"* [2] अर्थात् पत्नी का पाणिग्रहण करते समय जिस अग्नि में लाजाहुति की जाती है, उसी अग्नि को गृह्याग्नि निश्चित कर कार्य करना चाहिए।

यदि किसी कारणवश समावर्तन या विवाह में गृह्याग्नि निश्चित न की गयी हो अथवा गृहस्वामी आदि मृत हो गये हों तो अन्त्येष्टि समाप्त कर ज्येष्ठ पुत्र अग्निस्थापन करे – *"प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठिकरणम्।"* [3] यह अग्निस्थापन शुभतिथि, नक्षत्रादि से युक्त अमावस्या या पूर्णिमा को करना चाहिए।[4]

"तथा तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये"। [5] यदि किसी कारणवश यह कार्य सम्पादित न हो पाया हो तो किसी भी अमावस्या या पूर्णिमा को अग्निस्थापन किया जा सकता है।[6]

अग्निस्थापन कैसे करें –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अग्निस्थापन के विधान का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अग्निस्थापन के एक दिन पहले दैनिक क्रियाओं को समाप्त कर स्नानादि से निवृत्त हो संकल्पादि पूर्वक समतल जमीन पर गोबर से लेपन करें, उसके बाद वेदि का निर्माण करें। दूसरे दिन क्षौर कर्म कराकर संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यों को करके अग्नि को लाना चाहिए। यह अग्नि सोमयाजी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या अम्बरीष (भड़भूजे) के घर से लाना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो अरणिमन्थन से अग्नि उत्पन्न कर परिसमूहन करके "भूः" "भुवः" तथा "स्वः"[7] इन तीन व्याहृतियों

---

1. *मं०ब्रा० – 1/6/32, जै०गृ०सू० पृ० – 11*
2. *गो०गृ०सू० – 1/1/8*
3. *गो०गृ०सू० – 1/1/12*
4. *गो०गृ०सू० – 1/1/13*
5. *गो०गृ०सू० – 1/1/13*
6. *"दर्शे पौर्णमासे वाऽग्नि समाधानं कुर्वीत"। – गो०गृ०सू० 1/1/14*
7. *गो०गृ०सू० – 1/1/11*

द्वारा अग्निस्थापन करना चाहिए। अग्नि की स्थापना कर उसमें विना मंत्र के एक समिधा को डालना चाहिए। व्याहृतियों द्वारा घृताहुति प्रदान कर उसमें पूर्णाहुति भी प्रदान करना चाहिए। पुनः "भूः" "भुवः" व "स्वः" इन व्याहृतियों द्वारा भी आहुति प्रदान करना चाहिए। ब्राह्मण को यथाशक्ति दक्षिणा प्रदान कर इस कार्य को समाप्त करना चाहिए। यह क्रम अपूर्वाधान क्रिया के अर्न्तगत आता है।

विच्छिन्नाधान नामक अग्निस्थापन में नवीन अग्निशाला निर्मित नही की जाती। रात्रिजागरण व नान्दी श्राद्ध भी नही किये जाते। संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यों को समाप्त कर छूटे हुये दिनों की गिनती के आधार पर प्रायश्चित स्वरूप ब्राह्मण को द्रव्यादि प्रदान कर तत्काल परिसमूहनादि से अग्नि को संस्कृत कर तीन महाव्याहृतियों से तीन घृताहुतियों को प्रदान करना चाहिए। अग्नि की स्तुति कर इन्द्र के लिए पूर्णाहुति प्रदान करनी चाहिए। जिस दिन अग्नि स्थापित करें उस दिन प्रातः कालीन आहुति को न प्रदान करनी चाहिए। इसका कारण यह है कि अन्त में होने वाले समिधा होम या पाणिग्रहण में लाजाहोम से ही प्रातः कालीन आहुति मान ली जाती है। *"तेन चैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवतीति"*[1]

सायं प्रातः होम –

इसे ही औपासन कर्म या औपासन होम के नाम से कर्मकाण्डीय प्रकरण में जाना जाता है। पूर्वप्रोक्त अग्निस्थापन के पश्चात् ही सायंकालीन आहुति से शुरू कर प्रतिदिन गृह्याग्नि में होम करना चाहिए, इसी क्रिया को सायं प्रातः होम कहा जाता है। *"सायमाहुत्युपक्रम एवाऽत ऊर्ध्वः। गृह्यग्नौ होमोविधीयते।"*[2] *"सायमाहुत्युपक्रमं।।"*[3] सायं कालीन होमीय द्रव्यों में कृत – ओदन दूध, दही, यवागू अथवा अकृत – यवादि होते है।[4] जो हविष् सायंकल में प्रदान किया जाता है, उसे ही प्रातः काल भी प्रदान करना चाहिए।

---

1. *गो०गृ०सू० – 1/1/22*
2. *गो०गृ०सू० – 1/1/23*
3. *खा०गृ०सू० व द्रा०गृ०सू० – 1/5/6*
4. *"हविष्येषु यवा मुख्यास्तदनु व्रीह्यः स्मृताः।*
   माषकोद्रवगौरादीन् सर्वालाभेऽपि वर्जयेत्।।" – गो०गृ०सू० – 9/10

होमसमय –

सायंकालीन होम सूर्यास्त से पहले और प्रातः कालीन होम सूर्योदय से पहले करना चाहिए। इस समय निर्धारण के विषय में सामवेदीय गृह्यसूत्रों कई विकल्प प्राप्त होते है, जिन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :–

क – यदि आहुति रात्रिकाल में प्रदान करना हो तो सूर्यास्त के पश्चात् और यदि प्रातः आहुति प्रदान करना हो तो सूर्योदय से पहले प्रदान करना चाहिए।

ख – यदि आहुति दिन में प्रदान करना हो तो सूर्यास्त के पहले और यदि आहुति प्रातः काल में प्रदान करना हो तो सूर्योदय के पश्चात् प्रदान करना चाहिए।[1]

होम – विधान –

सपत्नीक यजमान शुद्ध आचरण युक्त होता हुआ अग्नि संस्कार, आचमन एवं संकल्प करने के लिए हवनकुण्ड के पश्चिम भाग में नदी, कूप अथवा किसी बड़े घड़े से जल लेकर प्रणीता में रखे। सूर्यास्त होने के पहले सांयकाल में और सूर्योदय से पहले प्रातःकाल में अमन्त्र पूर्वक ही समिधा को अग्नि में डालकर प्रज्जवलित कर लें। अग्नि स्फुल्लिंगों को कुश से इकठ्ठा करना चाहिए। यह एकत्रीकरण (परिसमूहन) भी बिना मंत्र के ही करना चाहिए। क्योंकि क्षिप्र होमों में परिसमूहन का निषेध होता है।[2] अमन्त्रक परिसमूहन के पश्चात् दाहिने घुटने को जमीन पर रखकर अंजलि में प्रणीता से जल लेकर *"ॐ अदितेऽनुमन्यस्व"*[3] मंत्र से अग्नि के दक्षिण दिशा में "ॐ

---

1. "पुराश्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमहुतिं जुहुयात्, पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्यो दितेनुदितेवा प्रातराहुतिं जुहुयात्।" – गो0गृ0सू0 – 1/1/27 – 28

और

"अस्तमिते होमः उदिते चानुदिते वा।" – द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 – 1/5/8–9

2. "न कुर्यात् क्षिप्रहोमेषु द्विजः परिसमूहनम्।
वैरूपाक्षं च न जपेत् प्रपदश्च विवर्जयेत।।"

– जै0गृ0सू0 –3/14, कात्यायन संहिता – 9/5

3. जै0गृ0सू0 – 3/14, तैत्तरीय संहिता 2/3/1/2

अनुमतेऽनुमन्यस्व"[1] मन्त्र से पश्चिम दिशा में *"ऊँ सरस्वत्यनुमन्यस्व"*[2] मंत्र से उत्तर दिशा में जलांन्जलि प्रदान करना चाहिए। *"ऊँ देवः सवितः"*[3] मंत्र द्वारा ईशानकोण से प्रारम्भ कर अग्नि के चारो तरफ एक या तीन बार जल द्वारा पर्युक्षण करना चाहिए। इसके बाद बिना मंत्र के अग्नि में एक समिधा डालकर यवादि (जौ) हविषों को जल से तीन बार धोना चाहिए।[4] अग्नि के बीच में दाहिने हाथ से अग्नि के लिए हवि की आहुति प्रदान करना चाहिए। इसके बाद मन में प्रजापति का स्मरण करते हुए ईशान कोण में हवि की आहुति प्रदान करना चाहिए। इस प्रकार की हविषाहुति सायंकालीन होम की है। प्रातःकालीन होम में सूर्य व प्रजापति को आहुति प्रदान करना चाहिए। इस प्रकार दोनों कालों के होमों में यही अन्तर होता है कि सायंकाल में सर्वप्रथम अग्नि को और प्रातःकाल में सर्वप्रथम सूर्य को आहुति प्रदान की जाती है। अन्यावशिष्ट सभी कृत्य दोनों होमों में एक जैसे ही होते है। यवादि हविषों की आहुतियाँ हाँथ से, लेकिन दही यवागू आदि की आहूतियाँ काँसें के पात्र या चरूस्थाली से स्रुवा द्वारा उठाकर प्रदान की जानी चाहिए। यह कार्य आजीवन करना चाहिए। यदि किसी कारणवश अग्नि कभी बुझ जाय तो प्रायश्चित कर पुनः प्रज्जवलित कर लेना चाहिए।

दर्शपौर्णमास

अमावास्या के दिन किये जाने वाले यज्ञ को दर्श व पूर्णिमा के दिन किये जाने वाले यज्ञ को पौर्णमास कहते हैं, इस तरह दोनों को एक साथ "दर्शपौर्णमास" यज्ञ कहा जाता है। जिस प्रकार सायं प्रातः होम नित्य करणीय हैं, ठीक उसी प्रकार दर्शपौर्णमास भी हैं। अमावास्या व पूर्णिमा के विषय में गोभिल गृह्यसूत्र का कहना है कि *"यः परमो विकर्षः सूर्याचन्द्रमसो सा पौर्णमासी यः परमः संकर्षः सामावास्या।"*[5] अर्थात् सूर्य व चन्द्रमा का जिस तिथि में परम विकर्ष हो अर्थात् परस्पर सप्तम राशि में स्थित होने से अत्यन्त दूर में अवस्थित हो उस तिथि को पौर्णमासी कहते हैं। जिस तिथि को इन दोनों ग्रहों के परम संकर्ष घटे (अत्यन्त निकट) उस तिथि को अमावास्या कहते हैं।

---

1. *जै0गृ0सू0 3/14, खा0गृ0सू0 1/2/18*
2. *जै0गृ0सू0 3/14, खा0गृ0सू0 1/2/18*
3. *जै0गृ0सू0 3/15, मं0ब्रा0 – 1/1/1*
4. *"त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालयेत् इत्याहुः" गो0गृ0सू0 1/7/5*
5. *गो0गृ0सू0 – 1/5/7*

दर्शपौर्णमास का काल –

अमावास्या या पूर्णिमा के साथ जब प्रतिपदा तिथि का संयोग हो तभी इस यज्ञ को करना चाहिए। जब अमावास्या या पूर्णिमा रात दिन व्याप्त हो तभी अग्नि स्थापित करके द्वितीय दिन यज्ञ को प्रारम्भ करना चाहिए। यदि रात्रि में प्रतिपदा तिथि के साथ संयोग हो तो उसी दिन प्रातः अग्निस्थापित कर द्वितीय दिन यज्ञ करना चाहिए। इसी तरह दिन में प्रतिपदा तिथि का संयोग होने पर भी इसी तरह करना चाहिए।

दर्शपौर्णमास में पूर्वापरभाव –

दर्शपौर्णमास यज्ञों को प्रारम्भ करते समय सर्वप्रथम यह शंका होती है कि पहले दर्श को किया जाय या पौर्णमास को। इस सम्बन्ध में सामवेदीय गृह्यसूत्रों की यह अवधारणा है कि पौर्णमास को पहले किया जाय व दर्श को बाद में।[1]

दर्शपौर्णमास में विधि विधान –

दर्श व पौर्णमास दोनों ही यज्ञों के विधि विधान एक जैसे हैं। दर्श नामक यज्ञ में पितृ सम्बन्धी व पौर्णमास नामक यज्ञ में देव सम्बन्धी विधि विधान होते हैं। इन यज्ञों के क्रमबद्ध विधि विधानों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है –

विशिष्ट नियम –

जिस दिन यज्ञीय स्थालीपाक किया गया हो उसी दिन से यजमान कहीं दूर गमन न करें। संयोगवशात् यदि कहीं दूर गए हों तो शीघ्रातिशीघ्र लौट आयें। सत्य व कम सम्भाषण करनी चाहिए। अपनी वस्तुओं को बेचें न, न दूसरी की वस्तुओं को खरीदें। दोपहर के समय स्नान करके केवल एक ही बार भोजन करें। भोजन में घृत का प्रयोग किया जा सकता है। हल्के व सुपाच्य भोजन जो उपवास के समय ग्रहणीय हो करना चाहिए। दर्शपौर्णमास यज्ञों में जिन भोजनों का प्राविधान है उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिए। यजमान दम्पति चारपाई पर न शयन करें, भूमि शयन करें। वैदिक व शास्त्रीय चर्चाओं के द्वारा रात्रि जागरण करना चाहिए। आठ प्रकार के मैथुनों से रहित होता हुआ ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। ये आठ मैथुन इस प्रकार हैं –

---

1. *दार्शचेत् पूर्वमुपपद्येत पौर्णमासेनेष्ट्वाऽथतत्कृर्यात्"।*

– द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 – 2/1/2

"स्मरणं कीतर्नं केलि प्रेक्षणं गुह्यभाषणंम् ।

संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।।

एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिण: ।

विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतेदेवाष्टलक्षणम् ।।" [1]

स्थालीपाक –

देवताओं को सुसंस्कृत पदार्थ ही देय होते हैं, इसलिए इन पदार्थों को परिष्कृत करने के लिए स्थालीपाक किया जाता है। स्थालीपाक की क्रिया इस प्रकार करनी चाहिए –

सपत्नीक यजमान दैनिक क्रियाओं को समाप्त कर प्रातः कालीन होम कर स्थालीपाक सम्बन्धी संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को सम्न्न करे। आसन के लिए फैलाये गये कुश को उत्तर दिशा में प्रक्षिप्त कर जल का स्पर्श करे। कुण्ड के उत्तर, पश्चिम व दक्षिण दिशा में क्रमशः दो, दो और एक आसन को आसादित करे। बिछाये हुए आसनों पर तीन – तीन कुशों को रखें। यजमान और ऋत्विक् अपने – अपने आसनों पर बैठें। यजमान ब्रह्मा का वरण करे व ब्रह्मा कार्य सम्पादनार्थ संकल्प लें। संकल्प के बाद कुण्ड व अग्निशाला को गोबर से लीप कर खैर, पलाशादि 18 इध्माओं को अग्निशाला में स्थापित करें। बहेड़ा, निम्ब, सेमर लोध आदि की लकड़ियो का प्रयोग इन यज्ञों में नही करना चाहिए। दर्शयज्ञ में कुशों को मूलभाग से व पौर्णमास में उनके स्कन्ध प्रदेश से छेदन करना चाहिए। यज्ञीय सामग्रियों को यथास्थान स्थापित करना चाहिए। ये कार्य दर्शयज्ञ के लिए अमावस्या के दिन व पौर्णमास के लिए पौर्णमासी के दिन करना चाहिए।

प्रतिपदा के दिन प्रातः कालीन कृत्यों को समाप्त कर नित्य होमादि करके अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए उसमें दो समिधाओं को डालें। यजमान जलती हुयी अग्नि के पूर्व तरफ से जाते हुए दक्षिण तरफ जाकर जलधारा प्रदान करे। ब्रह्मा के आसन पर पूर्वाग्र तीन कुशाओं को बिछाये। ब्रह्मा आचमनादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके कुण्ड के पूर्वभाग से दक्षिण भाग में जाकर आसन के पूर्वीभाग में पश्चिम मुख करके खड़ा हो जाये। 'ऊँ निरस्तः परावसुः'[2] इस मंत्र को पढ़ता हुआ पूर्वाग्र बिछाये हुए कुशाओं से एक कुशा उठाकर पश्चिम – दक्षिण दिशा के कोण में प्रक्षिप्त

---

1. *गो०गृ०सू० पृ० – 1*
2. *श०ब्रा० 1/5/1/3*

कर जल स्पर्श करें। आसन पर उत्तराभिमुख आसीन होकर – *"ऊँ आवसोः सदने सीदामि"* [1] इस मंत्र को पढ़ते हुए सभी कार्यों का अवलोकन करें। कार्य निर्देशन या त्रुटिपरिमार्जन में केवल संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करे, यदि किसी अन्य भाषा का प्रयोग करे तो वैष्णवी ऋचा या केवल *"ऊँ नमो विष्णवे"* का ही प्रयोग करें।

ब्रह्मा नामक ऋत्विक् के आसन पर बैठ जाने के बाद यजमान पूर्वाग्र तथा उत्तराग्र कुशास्तरण करे। कुशाओं पर पूरब की तरफ पात्रासादन करें। पात्रों पर कुशाओं से जल छिड़क कर उन्हें शुद्ध कर लेवें। उलूखल, मूसल तथा सूप को जल से प्रक्षालित कर अग्नि से तपा देना चाहिए। *"अग्नये त्वा जुष्टम् निर्वपामि"* वाक्य द्वारा एक बार उलूखल में कूटने के लिए डाले व दो बार बिना मंत्र के कूटने के लिए उलूखल में डाले। कूटने के बाद भूसी अलग कर देवताओं के लिए तीन बार, मनुष्यों के लिए दो बार व पितरों के लिए एक बार जल से हवि को प्रक्षालित कर लेना चाहिए[2] हवि को पवित्र कर परिमार्जित कर चरूस्थाली में स्थापित कर चरू में हवि व जल डालकर पवित्री को बाहर निकालकर हवि को पकाना चाहिए। पक जाने के बाद उसमें घृत डालकर अग्नि के उत्तर भाग में उतारकर पुनः घृत मिश्रण करें।

आज्य – संस्कार –

अग्नि को प्रज्ज्वलित कर कुशों को तीन या पाँच परत पूर्वाग्र आस्तरण करें। इसके बाद तीन या चार परिधियों को निर्मित करें। अग्नि में बिना मंत्र के अट्ठारह इध्माओं को डालें। आज्य स्थाली में पवित्री को पूर्वाग्र रखकर घृत छोड़ना चाहिए। *"ऊँ देवस्त्वा"* [3] मंत्र से अँगूठे और अनामिका अँगुलियों से पवित्री के दोनो भागों को पकड़कर एक बार मंत्र से और दो बार बिना मंत्र के ही घृत को उत्पवन संस्कार द्वारा विशुद्ध करें। इसके बाद पवित्री की ग्रन्थि खोलकर उसे जल से धोकर अग्नि पर रख देना चाहिए। घृत को पकाकर अग्नि के उत्तर भाग में व चरूस्थली के पूर्व भाग में स्थापित करें। पात्रों को जल से धोकर अग्नि पर तपाकर यथास्थान स्थापित करते हुए अग्नि से उत्तर भाग में पूर्व की तरफ आज्य स्थाली एवं उसके पश्चिम तरफ चरूस्थाली को स्थापित करे। *"पूर्वमाज्यमपरः स्थालीपाकः"*[4]

---

1. *ला0श्रौ0सू0 – 4/9/16*
2. *गो0गृ0सू0 1/7/5, द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2/10 व 12*
3. *जै0गृ0सू0 – 2/13*
4. *गो0गृ0सू0 1/8/1*

हवन – क्रिया –

नित्यकर्मों को पूर्ण करके "ऊँ अदितेऽनुमन्यस्व"[1] इस मंत्र से अग्नि के दक्षिण भाग से प्रारम्भ कर नैऋत्य व आग्नेय कोणों में जलांजलि को प्रदान करें। *"ऊँ अनुमतेऽनुमन्यस्व"*[2] मंत्र से नैऋत्य कोण में वायव्य कोण तक जलांजलि प्रदान कर परिक्रमा करनी चाहिए। *"ऊँ सरस्वत्यनुमन्यस्व"*[3] मंत्र से वामव्य से ईशानकोण तथा *"ऊँ देवः सवितः"*[4] मंत्र से ईशानकोण से आग्नेय कोण तक जलान्जलि प्रदान कर परिक्रमा करनी चाहिए। इसके पश्चात् समिधाओं को अग्नि में डालकर इसे प्रज्ज्वलित कर लेना चाहिए। प्रज्ज्वलित अग्नि में उपधात या उपस्तीर्णामिधारित विधि से होम करें।

ऐसा प्राविधान है कि प्रथम घृत का ही होम करना चाहिए। त्रिप्रवरीय यजमान चार स्रुवा घृत आज्यस्थाली से स्रुचि में भरकर अग्नि के नाम से आहुति अग्नि के उत्तर भाग में प्रदान की जायेगी। पुनः चार स्रुवा घृत द्वारा सोम के लिए आहुति अग्नि कोण में प्रदान करनी चाहिए। पंचप्रवरीय भृगुगोत्रीय यजमान चार स्रुवा के स्थान पर पाँच स्रुवा घृत स्रुचि में लेकर आहुति प्रदान करें। आज्यस्थाली से स्रुचि में घृत लेकर चरूस्थाली से निकाले हुए भाग में घृत छोड़े। पंचप्रवरीय यजमान मध्य, पूर्वाद्ध, पश्चिमार्द्ध तथा तीन स्थानों से चरू लेकर अग्नि देव के लिए कुण्ड के मध्य में उपस्तीर्णाभिघारित चरू को प्रदान करे। यह आहुति एक या तीन बार प्रदान करनी चाहिए।[5] स्रुचि में एक स्रुवा घृत लेकर उत्तर व पूर्व भाग में मेक्षण द्वारा चरू लेकर स्रुचि में डालें। पंचप्रवर वाले यज्ञकर्ता चरू ग्रहण के पूर्व दो स्रुवा घृत तथा चरू लेने के बाद दो स्रुवा घृत स्रुचि में डालें। "ऊँ अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा"[6] मंत्र से अग्नि के मध्य पूर्व एवं उत्तर दिशा में होम करें। स्विष्टकृत

---

1. *जै0गृ0सू0 3/14, खा0गृ0सू0 व द्रा0गृ0सू0 1/2/17 तथा तै0सं0 2/3/1/2*
2. *जै0गृ0सू0 3/14, खा0गृ0सू0 व द्रा0गृ0सू0 1/2/18*
3. *उपर्युक्त*
4. *एक ही बार हवि लेकर जब होम किया जाय तो उसे उपघात व जब स्रुचि में प्रथम स्रुवा से घृत छोड़कर, मेक्षण से चरू लेकर पुनः उस पर स्रुव से घृत छोड़कर होम किया जाय तो उसे उपस्तीर्णाभिघात कहा जाता है। (गो0गृ0सू0 पृ0 217 के संस्कृत भाषा का हिन्दी रूपान्तरण)*
5. *जै0गृ0सू0 4/1 तथा गो0गृ0सू0 1/8/9*
6. *गो0गृ0सू0 1/8/13*

आहुति प्रदानोपरान्त "ऊँ भूर्भुवः स्वाहा" इन तीन महाव्याहृतियों द्वारा आहुतियों को प्रदान करें। आहिताग्नि यज्ञकर्ता पौर्णमास में "ऊँ अग्नये स्वाहा" तथा "अग्निसोमाभ्यां स्वाहा" मंत्र से व सोमयज्ञ समाप्त करने वाला यज्ञकर्ता इन्द्र व महेन्द्र देवताओं को चरू की आहुतियों को प्रदान करे अथवा अहिताग्नि यज्ञकर्ता दर्श व पौर्णमास दोनों में अग्नि को ही आहुति प्रदान करें।

यज्ञवास्तुकर्म –

बिछाये गए कुशों को एकत्रित करके उनके मूल, मध्य व अग्रभाग को "ऊँ अक्तंरिहाणा"[1] मंत्र से चरू अथवा घृत में डुबोकर उनको जल से प्रोक्षित कर लेना चाहिए। "ऊँ यः पशुनामधिपति"[2] मंत्र से अग्नि में होम कर जल का स्पर्श कर लेना चाहिए। अवशिष्ट चरू का ब्राह्मण भक्षण कर आचमन करें। ब्राह्मण को शक्ति अनुसार दक्षिणा प्रदान कर वामदेव्यमान पूर्वक इस कर्म का समापन करना चाहिए।

विवाह –

गृह्यसूत्रों के मुख्य या वर्ण्य विषय पक्ष संस्कार है तथा संस्कारों में विवाह का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। इस संस्कार द्वारा दो आत्माओं का केवल दैहिक सम्बन्ध ही नही होता बल्कि आत्मिक सम्बन्ध भी स्थापित होता है। "ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरवेऽनुज्ञातः दरान् कुर्वीत्[3] अर्थात् ब्रह्मचर्य पूर्वक अंगो सहित, अर्थावबोध पूर्वक वेदाध्यान कर गुरू की आज्ञा प्राप्त कर समावर्तन संस्कार को करके ब्रह्मचारी का विवाह करना चाहिए। शुभ मुहूर्त में शुभ लक्षण सम्पन्न स्त्री को अपने वामांग रूप में स्वीकार करना चाहिए।

सामवेदीय गृह्यसूत्र में यह स्त्री लक्षण ।परीक्षा दो प्रकार से बतलाई गयी है – प्रथम ज्योतिर्विदों द्वारा और द्वितीय विभिन्न स्थानों की मिट्टियो की गोलियों द्वारा।

ज्योतिषवेत्ता जन्म की लग्न के आधार पर शुभाशुभ का विचार कर विवाहानुमति या निषेध करते हैं। कन्या के शारीरिक व पारिवारिक लक्षणों को इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है – पूर्ण व सुन्दर अंगो वाली, कम केश व लोमों वाली, मधुर स्वर वाली, मेघवर्णा, मधु पिंगल नेत्रों वाली न ज्यादा मोटी न पतली, न अत्यन्त छोटी कद वाली न अत्यधिक उम्रवाली, सैहार्दपूर्ण वातावरण

---

1. *का0श्रौ0सू0 31/11*
2. *खा0गृ0सू0 2/1/26*
3. *खा0गृ0सू0 व द्रा0गृ0सू0 1/3/1*

प्रिय, सम्पूर्ण अंगो वाली, सुन्दर भौहों वाली, सुन्दर स्वभाव वाली, सुन्दर दन्त पंक्तियो वाली, कमलवत नेत्रों वाली, कृशकटिवाली, धन में समान व अनिन्दित कुल वाली कन्या वरणीया होती है तथा कपिलवर्ण वाली, अतिरिक्त अंगो वाली, रूग्णा, लोमविहीना, अत्यधिक लोमों वाली वाचाल व पिंगलवर्ण वाली कन्या निन्द्य होती है।

द्वितीय तरीका यह है कि यज्ञवेदी, गोशाला, जलाशय, हल से जुती हुयी, चौराहे, द्यूतक्रीडा, श्मश्शान तथा ऊसर इन आठ स्थानों की मिट्टियों की आठ गोलियाँ तथा इन सभी को मिलाकर नवी गोली बनाकर "ऊँ ऋतमेव प्रथमम्"[1] मंत्र पूर्वक कन्या से एक गोली उठवाना चाहिए। यदि कन्या यज्ञवेदी, हल से जुती हुयी, जलाशय व गोशाला इनमें से किसी एक मिट्टी की गोली उठाये तो विवाह योग्य है अथवा सबको मिलाकर बनायी गयी गोली को उठाये तो भी विवाह के योग्य होती है। इसके अतिरिक्त किसी मिट्टी से बनी गोली उठाये तो विवाह योग्य नही होती है।

विवाह के एक दिन पहले कन्या या वर के पिता अथवा अन्य बड़े लोग सोने या अन्नदान के द्वारा आभ्युदयिक श्राद्ध व स्वस्तिवाचनादि कार्यों को करें। विवाह के दिन यव अथवा माण को जल या सुरा में पीसकर कन्या के सम्पूर्ण अंगो में लेपकर निम्न तीन ऋचाओं के द्वारा स्नान कराना चाहिए – 1– 'ऊँ कामवेद'[2] मंत्र से शरीर के उर्ध्वभाग, 2 – 'ऊँ इमन्त उपसम्'[3] तथा 'ऊँ अग्निम्'[4] मंत्र से उपस्थ सहित शरीर के अघः भागों का स्नान करना चाहिए। प्रथम मंत्र में प्रयुक्त "अमुंम्" शब्द के स्थान में द्वितीयान्त पति नाम का प्रयोग करना चाहिए। इस कार्य को "ज्ञातिकर्म" के नाम से गृह्यसूत्रों में जाना जाता है। कन्या को स्नान कराकर "ऊँ या अकृन्तन्"[5] मंत्र से अधोवस्त्र को और "ऊँ परिधित्त"[6] मंत्र से ऊर्ध्व वस्त्र को धारण करावें। "ऊँ प्रमेनतीयान्"[7]

---

1. *तै0ब्रा0 1/5/5 तथा आप0श्रौ0सू0 8/4/2*
2. *गो0गृ0सू0 2/1/9*
3. *उपर्युक्त*
4. *उपर्युक्त*
5. *जै0गृ0सू0 20/2 व मं0ब्रा0 1/1/5*
6. *मं0ब्रा0 1/1/6*
7. *जै0गृ0सू0 20/4 व मं0ब्रा0 1/1!8*

मंत्र को कन्या व "ऊँ प्रास्याः"[1] मन्त्र को वर पढ़े। गृह्याग्नि को वेदिका के मध्य में परिसमूहनादि से संस्कृत कर स्थापित करना चाहिए। सपत्नीक कन्या का पिता कन्या को लेकर वेदिका के मध्य में बैठे तथा विष्टरादि से वर की पूजा करे। कन्यादान करने वाला पिता या अन्य कोई वृद्धजन तीन पीढ़ी के पूर्वजों का परिचय देते हुए संकल्पपूर्वक सुवर्ण कुश व जल वर के दाहिने हाथ में देवें तथा वर "ऊँ देवस्त्वा"[2] मन्त्र पूर्वक कन्यादान को स्वीकार करे। कन्यादान के बाद गोदान स्वरूप स्वर्ण,गौ आदि वर को प्रदान करे। परिष्कृत आज्य, समिधा, स्रुवा, लाजा, लोष्ठ, मूसल, सूप, कुशा, पूर्ण पात्रादि कुण्ड पर स्थापित करे तथा वर पक्ष का एक व्यक्ति एक जलपूर्ण कलश सिर पर रखकर अग्नि की प्रदक्षिणा कर आसन पर वर के दक्षिण तरफ पूर्वाभिमुख होकर बैठे। इसके बाद अग्नि प्रज्ज्वलित कर उसका पर्युक्षण करे। वधू अपने दाहिने हाथ से वर के दाहिने हाथ का स्पर्श करे। हस्तस्पर्शोपरान्त तीनों व्याहतियों से तीन आहुतियाँ एवं तीनों को व्याहतियों का एक साथ उच्चारण कर चौथी आहुति को प्रदान करना चाहिए। "ऊँ अग्निरेतु"[3] आदि छः मंत्रों से वर वधू के दाहिने हाथ को अपने दाहिने कन्धे पर रखे हुए आज्याहुतियों को प्रदान करें।[3] वधू के दक्षिण हस्त को अपने दक्षिण हस्त में लिए हुए ही वर खड़ा होवे। वधू के पीछे जाकर उसकी अंजलि को अपनी अंजलि में लिए हुए वर स्थिर हो जाये तथा अग्नि के पूर्व भाग से वधू का भाई या माता वधू के पैर को लोढ़े पर रखे। वर "ऊँ इमामश्मानम्"[4] मंत्र का पाठ करे। वधू का भाई या माता वर अंजलि से युक्त वधू की अंजलि में स्रुवा से एक बार घृत छोड़ें व एक मुठ्ठी लावा भी छोड़ें। लावा पर पुनः दो बार घृत छोड़ें। "ऊँ इमं नार्युपब्रूते"[5] मंत्र से वरांजलि के साथ वधू लाजाहुति प्रदान करे। अंजलि पकड़े हुए ही वर – वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करें। 'ऊँ कन्यलापितृभ्यः'[6] मंत्र का उच्चारण

---

1. *जै०गृ०सू० 20/5 व मं०ब्रा० 1/1/9*
2. *जै०गृ०सू० 1/7*
3. *मं०ब्रा० 1/1/10-15, ।ऊँ अग्निरेतु।। जै०गृ०सू० 19/15*
   "ऊँ इमामग्निस्त्रायताम्" – जै०गृ०सू० 19/17
   "ऊँ द्यौस्तेपृष्ठम्" जै०गृ०सू० 20/13
   "ऊँ माते गृहै – जै०गृ०सू० 20/0, "ऊँ अप्रजस्याताम्" – जै०गृ०सू० 20/16
4. *जै०गृ०सू० 10/17, मं०ब्रा० 1/2/1*
5. *जै०गृ०सू० 21/20, मं०ब्रा० 1/2/2*
6. *जै०गृ०सू० 20/19, मं०ब्रा० 1/2/5*

करते हुए दोनों अग्नि के पश्चिम तरफ पूर्वाभिमुख होकर बैठ जायें। फिर वधू पैर को लोष्ठ पर रखकर लाजा को 'ऊँ अर्यमणंनु देवम्'[1] मंत्र से लाजाहुति प्रदान करें। 'ऊँ कन्यला'[2] मंत्र से प्रदक्षिणा कर अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर स्थित रहें। पुनः वधू लोष्ठ पर पैर रखे व कन्या भ्राता उपस्तीर्णाभिघारित विधि से लावा को पुनः "ऊँ पूषणं नु देवम् "[3] मंत्र से लाजाहुति प्रदान करें और पुनः वर – वधू अग्नि प्रदक्षिणा करें। पूर्वाभिमुख खड़े होने पर भ्राता सभी लाजा को वधू के हाथों में प्रदान कर देवे और वधू प्रजापति का ध्यान कर सभी लाजा का होम करे। "ऊँ एकमिषे"[4] आदि सात मंत्रों से वधू को सात पग चलने को कहें। चलने का क्रम यह है कि दाहिना पग आगे चले और वॉयां पग उसका अनुगमन करे।[5] "ऊँ सुमंगलीरियम्"[6] मंत्र से सिंदूर दान करे। "ऊँ समंजन्तु"[7] मंत्रपूर्वक वधू के सिर पर दृढ़ पुरुष से जल लेकर अभिषेक करे। सातवें पद पर वधू पहुँचे तो वर उसके कलाई को वाम हस्त से गृहीत कर उसके सांगुष्ठ दाहिने हाथ को उत्तान गृहीत कर "ऊँ गृभ्णामि"[8] मंत्र से प्रारम्भ कर छः पाणिग्रहण मंत्रों का उच्चारण करे।

उत्तर विवाह –

वर वधू विवाह के समय स्थापित अग्नि को ईशान कोण में समारोपित करें। अग्नि स्थापना करके संस्कृत आज्य को व्याहितियों द्वारा अग्नि में आहुति प्रदान करें। वर वधू दोनो अपने घर में विवाहाग्नि के ही साथ प्रवेश करें। स्थापित अग्नि के पश्चिम भाग में बैल के चमड़े पर दोनो मौन होकर बैठें। रात्रि हो जाने पर नक्षत्रों के दिखाई पड़ने पर "ऊँ लेखसन्धिषु"[9] आदि छः मंत्रों

---

1. जै0गृ0सू0 22/2, मं0ब्रा0 1/2/3
2. जै0गृ0सू0 20/19, मं0ब्रा0 1/2/5
3. मं0ब्रा0 1/2/4
4. जै0गृ0सू0 22/6, मं0ब्रा0 1/2/6-12
5. गो0गृ0सू0 2/2/11
6. जै0गृ0सू0 22/10, मं0ब्रा0 1/2/14
7. मं0ब्रा0 1/2/15
8. मं0ब्रा0 1/2/16-21, "ऊँ गृह्णामि" जै0गृ0सू0 21/1, "ऊँ अघोर" जै0गृ0सू0 21/7, "ऊँ आनः प्रजाम्" जै0गृ0सू0 21/9, "ऊँ मयिवते" जै0गृ0सू0 11/14
9. मं0ब्रा0 1/3/1-6

से घृताहुतियों को प्रदान करें। वर के आदेश से वधू "ऊँ ध्रुवमसि"[1] मंत्र का पाठ करते हुए ध्रुवदर्शन करे। ध्रुवदर्शन करने के बाद "ऊँ अरून्धत्यसि"[2] वाक्य का उच्चारण करते हुए अरून्धती नामक तारा का दर्शन करे। "ऊँ ध्रुवासौ"[3] मंत्र से वर वधू का आमंत्रण करें। आमंत्रित की जाती हुयी वधू पति गोत्र के साथ स्वयं को सम्बोधित कर वर का अभिवादन करे व वर उसे आशीर्वाद प्रदान करे। यह उत्तर – विवाह विवाह से अलग कर्म है, इसलिए इस कर्म के समाप्ति पर ब्राह्मण को पूर्णपात्र या यथाशक्ति दक्षिणा प्रदान करें। उत्तर विवाह को समाप्त कर वर वधू तीन दिन तक क्षार व लवण सहित भोजन करे और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भूमि पर ही शयन करें। इसी अवधि में वधू को अर्घ्य विधि से वर की अभ्यर्चना करनी चाहिए। विवाह की रात्रि में समशनीय स्थालीपाक करनी चाहिए। स्थालीपाक के बाद आहुतियों को भी प्रदान करना चाहिए। होम से बची हुयी हवि को "ऊँ अन्नपाशेन मणिना"[4] मंत्र द्वारा वर दक्षिण हाथ से स्पर्श करे। मन्त्रस्थ "असौ" पद के स्थान पर वधू नाम का प्रयोग करना चाहिए। अवशिष्ट हवि का भक्षण वर करे व भक्षणोपरान्त बची हुयी हवि वधू को प्रदान कर आचमन कर लें। बाह्मण को दक्षिणा स्वरूप गौ देकर सामगान करते हुए इस कृत्य का समापन करना चाहिए।

पतिकुल गमन –

पतिकुल गमन करते समय वाहन पर बैठते समय "ऊँ सु–किंसुकम्"[5] मंत्र का जप करना चाहिए। मार्ग में यदि चौराहा, नदी, चोर, सिंह, व्याघ्र, महावृक्ष या श्मशान पड़े तो उन्हें देखकर "ऊँ मा विदन्"[6] का पाठ करें। यदि मार्ग में वाहन क्षतिग्रस्त हो जाय, उलट जाय या ग्रन्थि खुल जाय तो गृह्याग्नि में समिधा छोड़कर उसे प्रज्ज्वलित कर लेवें। आज्य संस्कार व अग्नि पर्युक्षण कर घृताहुतियों को महाव्याहृतियों द्वारा प्रदान करें। अग्नि पर्युक्षण कर जलाभिषेक करके बचे हुए घृत को दूसरे वाहन में लगाकर उस पर बैठकर वामदेव्यगान करते हुए यात्रा प्रारम्भ करें। घर के नजदीक पहुँच जाने पर पुनः वामदेव्यगान करना चाहिए।

---

1. *गो0गृ0सू0 2/3/9, जै0गृ0सू0 22/12 (पाठ भेद के साथ)*
2. *गो0गृ0सू0 2/3/11, जै0गृ0सू0 22/14 (पाठ भेद के साथ)*
3. *मं0ब्रा0 1/3/7*
4. *मं0ब्रा0 1/3/8–10*
5. *मं0ब्रा0 1/3/11*
6. *मं0ब्रा0 1/3/12*

पतिगृह पहुँच जाने पर सधवा ब्राह्मणी वधू को यान से उतार कर घर में ले जाकर बैल के चर्म पर बैठावे। चर्म पर आरोहण करते समय "ऊँ इह गावः"[1] मन्त्र का पाठ करें। चर्मासीन होने पर ब्राह्मणी ऐसे बालक को वधू की गोद में बैठावे जिसका चूडाकर्म न हुआ हो। बालक की गोद में कुछ फलों को भी डाल देना चाहिए।

इसके बाद बालक को समीपस्थ कर धृति – होम का संकल्प वर – वधू लेवें। विवाह की अग्नि को स्थापित कर आज्य को परिष्कृत कर तीनों व्याहितियों से तीन आहुतियों को प्रदान करें। "ऊँ इह धृतिरिहि"[2] आदि मंत्रों से आठ आहुतियों को प्रदान करनी चाहिए। अग्नि में समिध डालकर यज्ञवास्तुकर्म करते हुए इस कार्य का समापन करना चाहिए। ब्रह्मा को यथाशक्ति दक्षिणा प्रदान कर अपने गोत्र का उच्चारण करते हुए गुरूजनों को नमस्कार करते हुए वामदेव्यगान करते हुए इस कार्य का समापन करें।

चतुर्थी कर्म –

विवाह से चौथे दिन जो कृत्य किया जाता है उसे चतुर्थी कर्म कहते हैं। चतुर्थी शब्द के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि यह कार्य रात्रि मे किया जाता है। इस कृत्य में "शिखि" नामक अग्नि की स्तुति की जाती है।

यज्ञीय प्रारम्भिक क्रियाओं को पूर्ण कर गृह्याग्नि को पर्युक्षित कर उसी अग्नि में घृत को परिमार्जित कर लेना चाहिए। आज्य को संस्कृत कर तीनों महाव्याहृतियों से तीन आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। इसके बाद क्रमशः अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य को घृताहुतियाँ प्रदान करें व पॉचवी घृताहुति इन सब देवताओं को एक साथ प्रदान करें। इस तरह चार बार इसी क्रम से घृताहुतियों को प्रदान करना चाहिए। इस प्रकार सब मिलाकर बीस आहुतियॉ दी जायेगी। प्रत्येक आहुति के पश्चात बचे हुए कुछ घृतबिन्दुओं को पास में रखे हुए जल में छोड़ते जाना चाहिए। अन्त में व्याह्तियों द्वारा घृताहुतियों को प्रदान करते हुए वामदेव्यगान करना चाहिए। घृत मिश्रित जल को वधू अपने सर्वागं में लेप करे व पुनः शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए। चतुर्थी कर्म में होने वाले होम में पूर्णाहुति कभी भी नही प्रदान करनी चाहिए, कारण यह है कि विवाह, गृह प्रवेश, उपनयन,

---

1. *मं0ब्रा0 1/3/13, जै0गृ0सू0 22/21*
2. *मं0ब्रा0 1/3/14, जै0गृ0सू0 23/2*

चूडाकरण, गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोग्नयन आदि संस्कारों में पूर्णाहुति ही नही दी जाती।

गर्भाधान –

हमारे धर्मग्रन्थों की यह मान्यता है कि मनुष्य पुत्रोत्पत्ति कर पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है और पुत्रोत्पत्ति बिना गर्भाधान के सम्भव ही नही है, इसलिए गृह्यसूत्रों में इस संस्कार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी इस संस्कार के विषय में पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते है।

यह संस्कार स्वस्थ्य व नवयौवना पत्नी में ही करना चाहिए– "नाजातलोम्योपहासमिच्छेत्"[1] अर्थात् अजातलोम्नी पत्नी के साथ उपहास की इच्छा नही करनी चाहिए। जिसके नाभिमण्डल के चतुर्दिक युवावस्था की सूचना देने वाली श्यामली रोमपंक्ति न हो वह अजातलोम्नी कहलाती है और वह इस संस्कार के लिए अनुपयुक्त है।

क्रम की दृष्टि से यह संस्कार विवाह के पश्चात आता है। विवाह हो जाने के पश्चात जब पत्नी ऋतुमती हो तब इस संस्कार का काल माना जाता है। ऋतुकाल में कितने दिनों के पश्चात् इस संस्कार को करना चाहिए, इस विषय में सभी विद्वानों में मतैक्य नही है। "ऊर्द्धवम् त्रिरान्त्रात् सम्भव इत्येके"[2] अर्थात् ऋतुमती होने के तीन रात्रियों के पश्चात इस संस्कार को करना चाहिए, ऐसी अवधारणा कुछ विद्वानों की है। "यदर्त्तुमती भवत्युपरतशोणिता तदा सम्भवकालः"[3] अर्थात् रजस्वला होने के पश्चात जब रक्त स्राव बन्द हो जाय तभी इस संस्कार को करना चाहिए। इन वर्णनों से यही बात स्पष्ट होती है कि सोलह दिनों में से रक्तस्राव से अवशिष्ट रात्रियों में पुण्य तिथि, वार, नक्षत्रादि का ध्यान रखते हुए पुत्र की इच्छा करने वाला युग्म राशियों में और पुत्री की इच्छा करने वाला अयुग्म रात्रियों में इस संस्कार को करे।

उपर्युक्त प्राविधानों को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त दिन में प्रातः कालीन क्रियाओं को पूर्ण कर गर्भाधान का संकल्प लेकर स्वस्तिवाचनादि कार्यों को करना चाहिए। इस संस्कार में "मरुत्" नामक अग्नि की स्थापना की जाती है। आज्य संस्कार कर व्याहितियों से केवल तीन दिन घृताहुतियों को प्रदान करना चाहिए। गर्भाधानीय होम में पूर्णाहुति नही प्रदान की जाती।

---

1. गो0गृ0सू0 3/1/3
2. गो0गृ0सू0 2/5/7
3. गो0गृ0सू0 2/5/8

सायंकाल होने पर सायंकालीन कृत्यों को समाप्त कर रात्रिकाल में पति "ऊँ विष्णुर्योनिर्कल्पयतु"[1] तथा "ऊँ गर्भम् धेहिसिनीवलि"[2] मंत्रों का उच्चारण करते हुए उपस्थ का स्पर्श कर स्वेच्छया समागमकार्य करे।

पुंसवन –

पुत्रोत्पत्ति व गर्भ को संस्कारित करने के लिए इस संस्कार को किया जाता है। यह संस्कार प्रथम गर्भ में ही किया जाता है। प्रथम गर्भ के संस्कारित हो जाने पर अन्य अवशिष्ट गर्भ स्वयं ही संस्कारित हो जाते हैं। इस संस्कार के काल के विषय में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। "प्रथमेगर्भे तृतीये मासि पुंसवनम्"[3] "पुंसवनम् तृतीये मासि"[4]। असावधानी या अपरिहार्य कारणों से यदि इस काल का अतिक्रमण हो जाता है तो प्रारम्भ में प्रायश्चित करके इस कार्य को करना चाहिए।

जिस दिन इस संस्कार को करना हो उस दिन प्रातःकाल में गर्भिणी उत्तराग्र आस्तीर्ण कुशों पर बैठकर स्नान करें। संकल्प व नान्दी श्राद्धादि प्रारम्भिक क्रियाओं को पूर्ण कर अग्नि के पश्चिम भाग में उत्तराग्र कुशों पर बैठे हुए पति – पत्नी वेदी को संस्कृत करें। वेदी में गृह्याग्नि को स्थापित कर आज्य सस्कार करें। व्याह्वतियों द्वारा तीन आहुतियों को प्रदान करें। पूरब मुखकर बैठी हुयी पत्नी के पीछे पति स्थित हो बिना मन्त्र के ही उसके दाहिने कन्धे का स्पर्श करे और "ऊँ पुमांसौ मित्रावरुणौ"[5] मंत्र का उच्चारण करते हुए उसके नाभिप्रदेश का भी स्पर्श करे। दो फलो से युक्त, कृमिरहित, ताजे वटवृक्ष के शुंग (निक़लते हुए पत्ते) तोड़े तथा वृक्षस्वामी को 21 यव उड़द को मूल्य स्वरूप देवे। मूल्य प्रदान करते समय "ऊँ यद्यसि सौमी"[6] आदि आठ मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए। वटवृक्ष शुंग को घर लाकर किसी शुद्ध ऊँचे स्थान पर रख देना चाहिए। व्याहृतियों से तीन आज्याहुतियों को प्रदान करना चाहिए। सिलौटी और लोढ़े को जल से अच्छी

---

1. मं0ब्रा0 1/4/6 तथा जै0गृ0सू0 23/18
2. मं0ब्रा0 1/4/7 तथा जै0गृ0सू0 23/20
3. खा0गृ0सू0 व द्रा0गृ0सू0 2/2/17
4. जै0गृ0सू0 पृ0 6
5. मं0ब्रा0 – 1/4/8
6. गो0गृ0सू0 2/6/7

तरह धोकर कोई पतिव्रता ब्रह्मचारिणी या ब्राह्मण वंश की कोई कन्या शुंग को अच्छी तरह व शीघ्रता से पीसे। पीसने की क्रिया पूर्ण हो जाने पर स्नाता गर्भिणी उत्तराग्र कुशों पर अग्नि से पश्चिम भाग में पूरब की तरफ सिर करके लेट जाये। पति उसकी दाहिनी नासिका में "ऊँ पुमानग्निः"[1] मंत्र से दाहिने हाँथ के अँगूठे तथा अनामिका अंगुलियो द्वारा शुंग के रस को छोड़े। इसके बाद आज्याहुतियों को प्रदान करके वामदेव्यगान पूर्वक इस कार्य का समापन करना चाहिए। कर्म की समाप्ति पर यथाशक्ति दक्षिणा भी प्रदान करना चाहिए।

सीमन्तोन्नयन –

सीमन्तोन्नयन दो शब्दों से मिलकर बना है – सीमन्त + उन्नयन। सीमन्त का अर्थ है माँग (केशों के मध्य बनायी जाने वाली) और उन्नयन का अर्थ है ऊपर की तरफ ले जाना अर्थात सँवारना। यह संस्कार भी प्रथम गर्भकाल में ही किया जाता है।[2] इसका प्रभाव प्रत्येक गर्भ पर पडता है। यह संस्कार गर्भ से चौथे[3] छठवें या आठवें[4] महीने में किया जाता है।

जिस दिन इस संस्कार को करना हो उस दिन यह ध्यान रहे कि शुक्लपक्ष, शुभ तिथि होनी चाहिए। प्रातःकालीन दैनिक कार्यों को पूर्ण करके नान्दीश्राद्ध, संकल्प, अग्निस्थापन व पर्युक्षणादि कार्यों को करके व्याहृतियों द्वारा तीन आज्याहुतियों को प्रदान करन चाहिए। पति पत्नी के पृष्ठ भाग में अवस्थित हो शलाटू या गूलर के फलों को पत्ती के गले या अन्य किसी अंग में "ऊँ अयमूर्जवतो"[5] मंत्र का उच्चारण करते हुए बाँध देवें। कुश की पिंजुलियों से व्याहतियों द्वारा तीन बार केश को सँवारे।

वीर वृक्ष के काष्ठ द्वारा "ऊँ येनादिते"[6] मन्त्र का उच्चारण करते हुए माँग को पुनः सँवारें "ऊँ शकाहम्"[7] तथा ऊँ यास्तेराका"[8] मंत्र का उच्चारण करते हुए क्रमशः टेकुआ व साही के

---

1. *मं0ब्रा0 1/4/9*
2. *"प्रथमगर्भे" – गो0गृ0सू0 2/7/2*
3. *"अथाष्याश्चतुर्थे" – द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2/2/24*
4. *"सीमन्तोन्नयनम् चतुर्थेमासिषष्ठेऽष्टमे वा पूर्वपक्षेपूर्णनक्षत्रे" – जै0गृ0सू0 पृ0 6*
5. *मं0ब्रा0 1/5/1*
6. *मं0ब्रा0 1/5/2*
7. *मं0ब्रा0 1/5/3*
8. *मं0ब्रा0 1/5/4*

काँटों द्वारा माँग को सँवारे। तिल चावल मिश्रित भात में घृत मिश्रित कर "ऊँ प्रजां पशून्"[1] मंत्र का उच्चारण करते हुए वधू को प्रदर्शित करावे, व पूछे कि तुम क्या देख रही हो, वधू उत्तर दे कि मै "प्रजा देख रही हूँ।" इसके बाद उस भात का भक्षण वधू स्वयं करे। भात भक्षण करते समय कोई ब्राह्मणी "वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नी"[2] वाक्य द्वारा आर्शीवाद प्रदान करे। भोजन कर हाँथ व मुख धोकर वधू आचमन कर इस कृत्य का समापन करे।

सोष्यन्तीहवन –

प्रसव काल अत्यन्त कठिनाइयों व अपार कष्टों से युक्त होता है, अतः इस काल के कष्टों के न्यूनीकरणार्थ यह हवन किया जाता है। पत्नी को प्रसव पीड़ा होने पर आचमन व संकल्प पूर्वक पति अग्निस्थापन कर बिना मंत्र के ही परिसमूहन व पर्युक्षण करे। "ऊँ या तिरश्ची"[3] तथा "ऊँ विपश्चित्"[4] इन दो मंत्रों द्वारा दो आज्याहुतियों को प्रदान करे। द्वितीय मंत्र में प्रयुक्त "असौ" पद के स्थान पर गर्भस्थ शिशु का कोई गुप्त नाम रखकर उच्चारित करें। इस गुप्त नाम को जीवन पर्यन्त गुप्त ही रखना चाहिए।[5]

जातकर्म –

यह संस्कार नवजात शिशु का किया जाता है। गर्भजल से पोषित एवं वीर्य तथा गर्भादि दोषों के विनाश के लिए यह संस्कार किया जाता है। नवजात शिशु के लिए यह प्रथम कार्य होता है। सिलौटी व लोढ़े को जल से भली भाँति प्रक्षालित कर यव व धान्य को भी प्रक्षालित कर जल के साथ अच्छी तरह से पीस लेना चाहिए। पीसते समय "ऊँ इयमाज्ञेदम्"[6] मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। पीसने के बाद रस को अलग छान लेना चाहिए। छाने गये रस से नवजात शिशु की जिह्वा को भलीभाँति प्रक्षालित करना चाहिए।

---

1. जै0गृ0सू0 7/5 व मं0ब्रा0 1/5/5
2. गो0गृ0सू0 2/7/12
3. जै0गृ0सू0 20/7 तथा मं0ब्रा0 1/5/6
4. मं0ब्रा0 1/5/7
5. द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2/2/32
6. मं0ब्रा0 1/5/8

अन्नप्राशन –

नालच्छेन व स्तनपान के पहले तथा जातकर्म संस्कार के पश्चात अन्नप्राशन संस्कार किया जाता है। स्वर्ण खण्ड पर घृत व मधु रखकर दाहिने हाथ के अंगुष्ठ और अनामिका अंगुलियों द्वारा बालक के मुख में "ऊँ मेघां ते"[1] तथा "ऊँ सदसस्पतिम्"[2] मंत्रो का उच्चारण करते हुए डालना चाहिए। यही घृत व मधु प्राशन ही अन्नप्राशन कहलाता है। इस संस्कार के करने के पश्चात् नालच्छेदन व स्तनपानादि कार्यों को करना चाहिए।

निष्क्रमण व चन्द्रावलोकन –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों की ऐसी मान्यता है कि से तृतीय शुक्लपक्ष की तृतीया तिथि को यह संस्कार किया जाना चाहिए।[3] जिस दिन यह संस्कार किया जाता है, बालक उसी दिन सर्वप्रथम घर से बार निष्क्रमण करता है। अतः इस संस्कार द्वारा बालक के शुभ की कामना की जाती है।

जिस दिन ऐसी शुभ बेला आये उस दिन प्रातः काल में बालक को जल से सशिर स्नात कर संकल्पपूर्वक गणेशादि देवताओं का पूजन कर नान्दी श्राद्ध करनी चाहिए। उसी दिन शाम को सूर्य के अस्तंगत हो जाने पर बालक की माता बालक को मुख के अतिरिक्त सभी अंगों को ढककर पति के दाहिने तरफ से उसकी गोंद में देवे। पिता बालक को चन्द्रमा का दर्शन करावे। दर्शन कराते समय "ऊँ यत्ते"[4] "ऊँ यत् पृथिव्याः"[5] तथा "ऊँ इन्द्रांग्नीशर्म"[6] इन तीन मंत्रो का उच्चारण करे। चन्द्र दर्शन कराकर पिता बालक को मॉ की गोंद में दे देवें। इस कार्य को करने के पश्चात् शुक्ल पक्ष की तृतीया तिथि को "ऊँ यद्"[7] मंत्र से चन्द्रमा को एक अंजलि जल बिना मंत्र के ही प्रदान करे। इस तरह एक वर्ष तक इस कृत्य को करते रहना चाहिए, चाहे माता – पिता घर पर रहें, चाहे घर से बाहर रहते हों।

---

1. मं0ब्रा0 1/5/9
2. जै0गृ0सू0 14/9 तथा सा0सं0पू0 2/8/7
3. द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2/3/1 तथा गो0गृ0सू0 2/8/1
4. मं0ब्रा0 1/5/10
5. मं0ब्रा0 1/5/11
6. मं0ब्रा0 1/5/12
7. मं0ब्रा0 1/5/13

नामकरण –

इस भौतिक जगत मे नाम का बड़ा महत्त्व है। मानव की प्रसिद्धि नाम को आधार मानकर ही होती है। यह नाम कैसा हो ? इस सम्बन्ध में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनेक प्राविधान हैं।

नामकरण के समय के विषय में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि यह सन्तानोत्पत्ति से दस दिन, एक सौ दिन या एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर करना चाहिए।[1] जिस दिन यह संस्कार करना हो उस दिन स्नानादि प्रारम्भिक कार्यों को करके बालक को साथ ली हुयी पत्नी को अपने दाहिंनी ओर बैठाकर पति संकल्प व नान्दीश्राद्धादि प्रारम्भिक कार्यों को करें व वेदि को परिष्कृत कर उसमे लौकिकाग्नि स्थापित करके उसका पर्युक्षण कर लेना चाहिए। आज्य संस्कार के पश्चात् पत्नी नवीन वस्त्रों से बालक को मुखातिरिक्त ढक करके पति की गोद में देवे। पत्नी पति के पृष्ठ भाग से जाकर उत्तर भाग में पूर्वाग्र आस्तरित कुशों पर पूर्वाभिमुखी हो बैठ जाय। स्रुवा को जल से प्रक्षालित करके अग्नि पर तपाकर प्रजापति, बालक के जन्मलग्न के समय तिथि नक्षत्र तथा नक्षत्र के देवता को आज्याहुतियॉ प्रदान करें। हवन करके बालक के मुख, नेत्र कर्ण व नासिका का स्पर्श करे। स्पर्श करते समय "ॐ कोऽसि कतमोऽसि"[2] मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। मंत्र में प्रयुक्त "असौ" पद के स्थान पर बालक का जो नाम रखना हो रख कर उच्चारण करना चाहिए।

नाम रखते समय कौन कौन सी सावधानियॉ रखनी चाहिए इस सम्बन्ध में सामवेदीय गृह्यसूत्रों का अभिमत है कि नाम के प्रथम अक्षर वर्गों के तृतीय चतुर्थ व पंचम होने चाहिए। अन्तस्थ वर्णों को बीच में होना चाहिए। नाम के अन्त में कृत् प्रत्यय्, विसर्ग या दीर्घ वर्ण होना चाहिए। नाम के अन्त में तद्धित प्रत्यय के वर्ण नही होना चाहिए। बालिकाओं के नाम अयुग्म वर्ण वाले व दकारान्त होने चाहिए।

इस कार्य को समाप्त कर ब्राह्मण को यथाशक्ति दक्षिणा देनी चाहिए। बालक के जन्म के महीने की प्रत्येक तिथि को इन्द्र, अग्नि, द्यावापृथिवी और विश्वदेवों को आज्याहुतियाँ प्रदान करना चाहिए।

---

1. *द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2/3/6 तथा गो0गृ0सू0 2/8/8*
2. *द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2/3/9 तथा मं0ब्रा0 1/5/4*

चूडाकरण –

नख व केशों का अव्यवस्थित रूप में बढ़ना पशुत्व का द्योतक होता है, इस कारण से तथा गर्भ सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए इस संस्कार को किया जाता है। इस संस्कार में गर्भ के बालों को काटा जाता है।

चूडाकरण जन्म से कितने दिन बाद किया जाय, इस सम्बन्ध में सामवेदीय गृह्यसूत्रों का कथन है कि – जन्म से तृतीय वर्ष में इस संस्कार को करना चाहिए – "तृतीये संवत्सरे जटा कुर्वीत्"[1] ऐसी ही मान्यता अन्य सामवेदीय गृह्यसूत्रों की है।[2] जिस दिन इस संस्कार को करना हो उस दिन प्रातः कालीन कार्यों को समाप्त करके वेदी को परिष्कृत कर उसमें लौकिकाग्नि की स्थापना करके आज्य संस्कार करना चाहिए। अग्नि के उत्तर तरफ उत्तराग्र कुशों पर 21 कुशों की बनी पिंजुलि, कॉसे के पात्र में गर्मजल, क्षुर, दर्पण आदि को स्थापित करें। क्षौर कर्म करने के लिए आहूत नापित को इन उपकरणों के दक्षिण भाग में बैठायें। अग्नि के उत्तरी भाग में तिल तन्दुल का मिश्रण एवं गाय का गोमय रखें। अग्नि के पूर्वीय भाग में यव, तिल, उड़द तथा ब्रीहि को अलग – अलग पात्रों में भर कर रख देना चाहिए। अग्नि के पश्चिम तरफ नवीन वस्त्रों को धारण किये हुए बालक को लेकर उत्तराग्र कुशाओं पर पूरब मुख करके बैठे। पिता अग्नि को पर्युक्षित करके उसमे चार आहुतियाँ प्रदान करे – जिसमें तीन व्याहितियों की तीन आहुतियॉ एवं चौथी बार सबको मिलाकर एक आहुति होगी। बालक को लिए हुए पिता बालक की बैठी हुयी माता के पीछे जाकर पूर्वाभिमुख होकर स्थित हो जाय। सूर्य का स्मरण करता हुआ पिता "ऊँ अयमगात् सविता"[3] मंत्र द्वारा नापित को एवं "ऊँ ऊष्णेन वाय"[4] मंत्र पूर्वक ऊष्ण उदक का अवलोकन करें। "ऊँ आप उन्दन्तु"[5] मंत्र का उच्चारण करता हुआ पिता काँसें के पात्र में ऊष्ण उदक होकर बालक के सिर के दाहिने भाग के बालों को भिगोये। "ऊँ विष्णोर्दष्टोऽसि"[6] मंत्र पूर्वक क्षुर एवं शीशे का

---

1. जै0गृ0सू0 11/16
2. खा0गृ0सू0 व द्रा0गृ0सू0 2/3/16; गो0गृ0सू0 2/9/1
3. मं0ब्रा0 – 1/6/1
4. जै0गृ0सू0 9/4 एवं मं0ब्रा0 1/6/2
5. जै0गृ0सू0 9/6 एवं मं0ब्रा0 1/6/3
6. मं0ब्रा0 1/6/4

अवलोकन करे। "ऊँ ओषधे त्रायस्वैनम्"[1] मंत्र पूर्वक सात कुशों से बनी पिंजुली से बालक के दाहिनी भाग के केशों को बाँध देवे। बॅधी बिंजुलीयुक्त दाहिनी तरफ के केशों को बायें हॉथ से पकड़कर दाहिने हाथ में क्षुर एवं शीशा लेकर "ऊँ स्वधिते मैनम् हिंसीः"[2] मंत्र के उच्चारण के साथ बालों का स्पर्श कराये। केशो का कर्तन "ऊँ येनपूषा"[3] मंत्र पूर्वक करें। केशों के कर्तन में एक बार मंत्र का प्रयोग होगा एवं दो बार बिना मंत्र के। उत्तर दिशा में रखे गये गोमय में केशो को रख देना चाहिए एवं पिंजुलि को जल से शुद्ध कर लेना चाहिए। इसी प्रक्रिया से पृष्ठ भाग एवं वामभाग के केशों का भी कर्तन होगा। पिता बालक के शिर को "ऊँ त्रयायुषम्"[4] मंत्र पूर्वक दोनो हाथों से स्पर्श कर बालक को अग्नि के उत्तर भाग में ले जाकर स्व परम्परानुसार और कर्म करावे। और कर्म किये जाने के बाद पुनः चार आज्याहुतियों को प्रदान करना चाहिए। बालों से युक्त गोमय को निवास क्षेत्र से बाहर ले जाकर जमीन में गाड़ देना चाहिए। तिल मिश्रित भात ब्रीहि को नापित को प्रदान कर ब्राह्मण को यथाशक्ति दक्षिणा प्रदान कर इस कार्य का समापन करना चाहिए।

उपनयन –

यह संस्कार विद्याध्ययन का द्वार रूप है अर्थात् इस संस्कार के पश्चात् ही विद्यार्थी वेदाध्ययन प्रारम्भ करता है। इस भाव को ध्यान में रखकर गोभिल गृह्यसूत्र में कहा गया है कि "उपसमीपं नीयते येन कर्मणा तदुपनयम्"[5] इस संस्कार में कर्पास सूत्र निर्मित यज्ञोपवीत को धारण कराया जाता है। अवसर विशेष में वस्त्र अथवा कुश निर्मित यज्ञोपवीत ही धारणीय होता है।[6]

इस संस्कार को जन्म से कितने दिनों के पश्चात् करना चाहिए। इस सम्बन्ध में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में पर्याप्त सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं।

हर वर्ण के लिए यज्ञोपवीत की विभिन्न समयावधि विधियॉ निर्धारित की गयी है,

---

1. *मं0ब्रा0 1/6/5*
2. *मं0ब्रा0 1/6/6*
3. *मं0ब्रा0 1/6/7*
4. *मं0ब्रा0 1/6/8*
5. *पृष्ठ 453*
6. *"यज्ञोपवीतं सौत्रं कौशं वा" – द्रा0गृ0सू0, खा0गृ0सू0 1/1/4-6 और "यज्ञोपवीतं कुरूते सूत्रं वस्त्रं वा अपिवा कुशरज्जुमेव" – गो0गृ0सू0 1/2/1*

यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य का उपनयन क्रमशः सात, ग्यारह व बारह वर्ष में करना चाहिए। ब्राह्मण तो पाँचवे, सातवें या नवे वर्ष कर सकता है। सात वर्ष की अवधि तो सामान्य है, लेकिन ब्रह्मवर्चस् की कामना करने वाला नव वर्ष में उपनयन कराये – "सप्तमें ब्राह्मणमुपनयीत पंचमें ब्रह्मवर्चस्वकामं नवमें त्वायुष्काममेकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यम्।"[1] गो0गृ0सू0 में यह क्रम क्रमशः आठ, ग्यारह व बारह वर्ष निर्धारित किया गया है।[2] यदि किसी कारण वश इस काल का अतिक्रमण हो जाता है तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का क्रमशः सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष में उपनयन करा देना चाहिए।[3] यदि किसी कारण वश इन अवस्थाओं का भी अतिक्रमण हो जाता है तो ये "पतितसाविन्त्रिक" कहे जाते हैं। ऐसी स्थिति में ये अध्ययन, यज्ञ व विवाहादि कार्य नही कर सकते। पुनः व्रात्य व स्त्रोत्रादि प्रायश्चितों को करके उपनयन करा सकते हैं।

जब इस संस्कार को करने की शुभ बेला प्राप्त हो तब नान्दी श्राद्धादि प्रारम्भिक कार्यों को करके भोजनोपरान्त शिखायुक्त क्षौर कर्म कराना चाहिए। स्नान व नवीन वस्त्रों को धारण करने के पश्चात् यज्ञकर्ता ब्राह्मण के आदेशानुसार अपने पिता व माता के साथ स्थित होवे। वेदी को कुशों से साफ करके गोमय से लेपन कर कुशों से रेखांकित एवं शुद्ध करें। वेदी में "समुद्भव" नामक लौकिक अग्नि की स्थापना करनी चाहिए।

जिस बालक का उपनयन हो रहा है वह कौन सा वस्त्र धारण करे ? इस विषय में द्राह्यायण, खादिर व जैमिनि गृह्यसूत्रों में तो कोई उल्लेख नही प्राप्त होता लेकिन गोभिल गृह्यसूत्र में इस विषय में विशेष उल्लेख है। रेशम अथवा शण का वस्त्र ब्राह्मण धारण करे, क्षत्रिय कर्पास का वस्त्र व वैश्य ऊन का वस्त्र धारण करे।[4] ब्राह्मण कालेमृग, क्षत्रिय लाल मृग व वैश्य बकरे के चर्म से बने अजिन को धारण करे।[5] ब्राह्मण मूँज, क्षत्रिय काश व वैश्य शण की बनी मेखला को धारण करे।[6] ब्राह्मण पलास, क्षत्रिय बिल्व और वैश्य पीपल के बने दण्ड को धारण करे।[7] न

---

1. *जै0गृ0सू0 12/4-5*
2. *गो0गृ0सू0 20/10/1-2*
3. *जै0गृ0सू0 12/5 एवं गो0गृ0सू0 2/10/3*
4. *गो0गृ0सू0 2/10/7 एवं 11*
5. *गो0गृ0सू0 2/10/8*
6. *गो0गृ0सू0 2/10/9*
7. *गो0गृ0सू0 2/10/10*

प्राप्त होने की स्थिति में सभी वस्तुएं सभी के लिए ग्राह्य होती हैं।

इस संस्कार का प्राविधान इस प्रकार है – पिता, आचार्य अथवा अन्य बालक को अपने दाहिनी भाग में अवस्थित करावें। प्रारम्भिक कार्यों को सम्पन्न कराकर "ब्रह्मवरण, अग्निप्रज्ज्वलन, कुशास्तरण, वस्तुविन्यास, आज्यसंस्कारादि कार्यों को करना चाहिए।

तीन व्याहितियों से तीन तथा सबको मिलाकर चौथी आहुति प्रदान करनी चाहिए। "ऊँ अग्ने व्रतपते"[1] आदि पॉच मंत्रों से बालक हवन कार्य करें। इसके पश्चात् आचार्य उत्तराग्र आस्तीर्ण कुशों पर अग्नि के पश्चिमी भाग में अवस्थित होवें। अग्नि तथा आचार्य के मध्य बालक अंजलि बाँधे स्थित रहे। आचार्य या कोई ब्राह्मण अंजलि को जल से परिपूर्ण करे। "ऊँ आगन्त्रा"[2] तथा "ऊँ आग्निस्ते"[3] इन दो मंत्रों को आचार्य बालक के प्रति कहे। संस्कारकर्ता ब्राह्मण बालक से "ब्रह्मचर्यम्"[4] इस प्रकार कहे तथा "को नामासीति"[5] इस प्रकार पूछे। पूछे जाने पर संस्करणीय बालक किसी देवताश्रय, गोत्राश्रय, अथवा नक्षत्राश्रय नाम की कल्पना करके प्राक्पृष्ट प्रश्न का उत्तर दें। इसके बाद आचार्य व बालक दोनों जलपूर्ण अंजलि को जमीन पर छोड़ देवें। आचार्य अपने दाहिने हाथ से बालक के दाहिने हाथ के अंगुष्ठ को "ऊँ देवस्य ते"[6] मंत्र द्वारा पकड़े। मन्त्रस्थ असौ पद के स्थान पर बालक के नाम का पूरा उच्चारण होना चाहिए। "ऊँ सूर्यस्य"[7] मंत्र से स्वस्थान की परिक्रमा कर बालक पूरब मुख करके बैठ जाय। "ऊँ प्राणानाम्"[8] मंत्र द्वारा आचार्य दाहिने स्कन्ध प्रदेश से होकर बालक के नाभिप्रदेश का स्पर्श करे। "ऊँ कृशन् इदन्ते"[9] मंत्र से आचार्य ही बालक के हृदय का स्पर्श करे। "ऊँ प्रजापतये त्वा"[10] मंत्र से दाहिने हाथ से ही दाहिने

---

1. *जै०गृ०सू० 1/4/9*
2. *मं०ब्रा० 1/6/14*
3. *मं०ब्रा० 1/6/15*
4. *जै०गृ०सू० 11/7 तथा गो०गृ०सू० 2/10/19*
5. *गो०गृ०सू० 2/10/20*
6. *मं०ब्रा० 1/6/18*
7. *मं०ब्रा० 1/6/19*
8. *मं०ब्रा० 1/6/20 तथा जै०गृ०सू० 11/13*
9. *मं०ब्रा० 1/6/22*
10. *मं०ब्रा० 1/6/23*

स्कन्ध का स्पर्श करे।"ऊँ देवाय त्वा"[1] से बायें हॉथ से बायें स्कन्ध का स्पर्श करना चाहिए। "ऊँ ब्राह्म"[2] मंत्र से दोनो हॉथों से दोनो स्कन्धों का स्पर्श करना चाहिए। इसके पश्चात् आचार्य बालक को उपदेश दे। उपदेश देते समय बालक "वाढम्" शब्द से उपदेश की स्वीकृति देता जाये। "समिधम्"[3] वाक्य द्वारा बालक को आचार्य उपदेश देना प्रारम्भ करे। पूरब मुख करके अग्नि के उत्तरी भाग में उत्तराग्र आस्तीर्ण कुशों पर आचार्य आसीन होवे तथा पश्चिम मुख करके उत्तराग्र आस्तीर्ण कुशों पर बालक दाहिने घुटने को जमीन पर टेक कर स्थित होवे। आचार्य बालक की मेखला को तीन बार कटि में लपेट कर ग्रन्थि बन्धन प्रवरानुसार कर दे। ग्रन्थिबन्धन करते समय "ऊँ इयं दुरूक्तात्"[4] तथा "ऊँ ऋतस्य गोप्त्री"[5] मंत्रों का पाठ भी आचार्य करता जाय। ग्रन्थिबन्धन हो जाने के पश्चात् बालक आचार्य के समीप जाकर गायत्री मंत्र की याचना करे व आचार्य को गायत्री मंत्र का उपदेश देवे। ऊँ को अन्त में रखते हुए तीनो व्याहृतियो का भी उपदेश आचार्य देवे। बालक को हॉथ में दण्ड प्रदान करते समय आचार्य "ऊँ सुश्रुवः"[6] मंत्र का उच्चारण करे। इन कार्यों के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् बालक सर्वप्रथम अपनी मॉ से भिक्षा की याचना करे।[7] इसी सम्बन्ध में मनुसंहिता में भी कहा गया है –

"मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिच्छेत् भैक्षं प्रथमं या चैनं न विमानयेत्।।" [8]

मांगी गयी भिक्षा को आचार्य को प्रदान कर देना चाहिए। इस भिक्षा को ब्रह्मचारी उपनयन संस्कार हो जाने के द्वितीय दिन आचार्य से पुनः ग्रहण कर लेवे। "ऊँ अग्नये समिधम्"[9] मंत्र द्वारा सूर्यास्त हो जाने के पश्चात् अग्नि में समिधाहुति प्रदान करना चाहिए। ब्रह्मचारी इसी दिन से संन्ध्योपासना

---

1. *मं0ब्रा0 1/6/24*
2. *मं0ब्रा0 1/6/25*
3. *मं0ब्रा0 1/6/26*
4. *जै0गृ0सू0 12/6 तथा मं0ब्रा0 1/6/27*
5. *मं0ब्रा0 1/6/28 तथा जै0गृ0सू0 12/8 (पा0भे0)*
6. *मं0ब्रा0 1/6/31*
7. *गो0गृ0सू0 2/10/39*
8. *म0सं0 2/50*
9. *जै0गृ0सू0 11/21 एवं मं0ब्रा0 1/6/32*

प्रारम्भ करे। प्रतिदिन गायत्री मंत्र का जप तब तक करते रहना चाहिए जब तक वेदाध्ययन प्रारम्भ न हो जाय। क्षार व लवण रहित भोजन उपनयनोपरान्त तीन रात्रियों तक करना चाहिए। ब्राह्मण दक्षिणा व वामदेव्यगान पूर्वक इस संस्कार का समापन करना चाहिए।

मूर्धाभिघ्राण –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में ऐसा प्राविधान है कि पिता जब प्रवास के पश्चात् घर वापस लौटता है तो ज्येष्ठ पुत्र के सिर को सूँघता है, यही सूँघना मूर्घाभिघ्राण के नाम से गृह्यसूत्रों में जाना जाता है। मूर्धाभिघ्राण के समय पिता पुत्र के सिर को "ऊँ अंगादंगात्"[1] इन तीन मंत्रों द्वारा हाँथों से ग्रहण करता है। शिर ग्रहण के सन्दर्भ में जै0गृ0सू0 का कथन है कि – "ऊँ अंगादंगात्संभवसि .... जीवः शरदः शतम्"[2] इस मंत्र द्वारा ग्रहण कार्य होना चाहिए। "ऊँ पशूनां त्वां"[3] मंत्र द्वारा पुत्र के सिर को सूँघना चाहिए। मन्त्रस्थ "असौ" पद के स्थान पर बालक के नाम का उच्चारण करना चाहिए। ज्येष्ठ पुत्र के पश्चात् जितने अन्य अवशिष्ट पुत्र हों इसी क्रम से उनके शिर भी सूँघना चाहिए। पुत्रियों के शिर को बिना मंत्र के ही सूँघना चाहिए।

पंचव्रत –

विद्याध्ययन ब्रह्मचर्य पूर्वक होता है। उपनयन संस्कार के पश्चात् विद्याध्ययन प्रारम्भ होता है। विद्याध्ययन काल में ब्रह्मचारी को माणवक कहा जाता है। माणवक को विद्याध्ययनकाल के पंचव्रतों का पालन करना अनिवार्य होता है, ये पंचव्रत इस प्रकार है –

1. गोदानिक व्रत
2. व्रातिकव्रत
3. आदित्यव्रत
4. औपनिषादिक व्रत व
5. ज्येष्ठ सामिक व्रत

---

1. मं0ब्रा0 1/5/16–18
2. जै0गृ0सू0 7/10
3. मं0ब्रा0 1/5/19

छान्दोग्यमतानुयायी जन इन पंचव्रतों के स्थान पर आठ प्रकार के व्रतों का पालन करते है –

1. उपयनयन व्रत
2. गोदान व्रत
3. व्रातिक व्रत
4. आदित्य व्रत
5. महानाम्निक व्रत
6. औपनिषदिक व्रत
7. भौतिक व्रत एवं
8. ब्रह्मसाम व्रत

पंचव्रतों से अतिरिक्त तीन व्रतों में महानाम्निक व्रत विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसका वर्णन हम आगे वृहद् रूप में करेगे। पंचव्रतो का क्रमिक परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है –

गोदानिक व्रत –

यहाँ गो शब्द का अर्थ केश है अर्थात् "गावः केशाः दीयन्ते खण्ड्यन्ते अस्मिन्निति गोदानम्"[1] केश खण्डन जिस व्रत में किया जाता है उसे गोदान व्रत कहा जाता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इस व्रत के अधिकारी होते है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में इस व्रत के काल के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गोदानिक व्रत क्रमशः गर्भकाल से क्रमशः सोलहवें, बाइसवें और चौबीसवें वर्ष किया जाता है।[2] संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके चूडाकरण की विधि के ही समान मुण्डन कराना चाहिए।[3] ऐसी ही मान्यता गोभिल गृह्यसूत्र की भी है।[4] केशान्त सभी अंगों के लोगों का होना चाहिए। इस व्रत में भोजन केवल एक समय ही करना चाहिए। हविष् के अन्नों के भोजन का ही प्राविधान है। गोबर लीपकर, कुशास्तरण करके शिष्य आचार्य के सम्मुख आसीन होवे। तीनों व्याहृतियों से तीन आहुतियों को प्रदान करके 'इन्द्र' और 'अनुमति' के लिए भी एक – एक आहुति प्रदान करें। शिष्य अपने दाहिने

---

1. गो0गृ0सू0 पृ0 – 511

2. गो0गृ0सू0 3/1/1

3. द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2/5/1

4. गो0गृ0सू0 3/1/2

हाँथ में कुश को धारण करके आचार्य द्वारा कहे गये मंत्रों को उसी क्रम से पुनरावृत्ति करे। वेदी को संस्कृत कर होमानुसार आहुतियों को प्रदान करे। अन्त में तीनो व्याहृतियो से तीन व तीनो को मिलाकर चौथी आहुति प्रदान करना चाहिए। ब्रह्मचारी "ऊँअग्ने व्रतपते"[1] आदि पाँच मंत्रों से पाँच आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। "ऊँ ऋचं साम"[2] तथा "ऊँ सदसस्पतिम्"[3] मंत्रों से भी घृताहुतियों को प्रदान करना चाहिए। ब्राह्मण दो गाय, क्षत्रिय दो अश्व तथा वैश्य दो भेड़ दक्षिणा स्वरूप प्रदान करे। नाई को बकरा प्रदान करना चाहिए।

आचार - विचार -

गोदानिक व्रत करने वाले को निम्न आचार विचारों का पालन करना चाहिए –

1. भूमिशयन
2. मांस, मदिरा सेवन वर्जन
3. मैथुनराहित्य
4. अलंकार न धारण करना
5. शरीर को अन्य कृतिम साधनों से न सजाना
6. ज्यादा देर तक पैरों को न धोना
7. जो यान बैल से चल रहा हो उस पर न बैठना इत्यादि।

व्रातिक व्रत -

गोदानिक व्रत के ही समान सभी कृत्य व्रातिक व्रत में भी किये जाते है। संकल्प में 'गोदानव्रत के स्थान पर 'व्रातिक व्रत' पद का प्रयोग करना चाहिए। संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यों को करने के पश्चात् "ऊँ अग्ने व्रतपते"[4] आदि पंच मंत्रों से पॉच आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। इस व्रत का समायोजन जितने समय का होगा, आहुति प्रदान करते समय उसका भी समायोजन कर लेना चाहिए। गोदानिक व्रत में जिन – जिन ग्रन्थों का श्रवण ब्रह्मचारी किये रहता है, व्रातिक व्रत में उन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन किये जाते हैं। इस व्रत की समाप्ति पर चरूस्थालीपाक करके इन्द्र

---

1. *जै०गृ०सू० 13/4-9 एवं मं०ब्रा० 1/6/10-14*
2. *जै०गृ०सू० 14/9 एवं सा०स०पू० - 4/2/9/10*
3. *जै०गृ०सू० 14/9 एवं सा०सं०पू० 2/2/8/7*
4. *जै०गृ०सू० 13/4-9 तथा मं०ब्रा० 1/6/10-14*

को आहुति प्रदान की जाती है। आचार्य को दक्षिणा प्रदान करके वामदेव्यगान पूर्वक इस व्रत का समापन करना चाहिए। इस व्रत के आचार – विचार पूर्वव्रत के समान होते है।

आदित्य व्रत –

इस व्रत के भी सभी कार्य पूर्व व्रतों के ही समान होते है। संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके "ऊँ अग्ने व्रतपते"[1] आदि पाँच ग्रन्थों द्वारा आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। आहुति प्रदान करते समय आदित्य व्रत शब्द का प्रयोग एवं इस व्रत की समयावधि का समायोजन कर लेना चाहिए। आदित्यव्रत सभी लोगों के लिए नही होता – "आदित्यव्रतं तु न चरन्त्यके"[2] "नादित्यव्रतमेकेषाम्"[3] अर्थात् जो अरण्यक ग्रन्थों का अध्ययन कर चुके हों वे आदित्य व्रत को नही करते।

आचार – विचार –

1. आदित्य व्रती एक ही वस्त्र धारण करे
2. सूर्य की धूप से बचने के लिए छत्र का प्रयोग करे।
3. गुरु की आज्ञा बिना जंघे भर जल में प्रवेश न करे।
4. व्रत के अंत में महानाम्नी शुक्रिया साम का गुरूमुख से श्रवण करे।

औपनिषदिक व्रत –

इस व्रत के सम्पूर्ण कार्य पूर्व व्रतों के ही समान है। इस व्रत में ब्रह्मचारी ब्राह्मण व उपनिषद् ग्रन्थों का श्रवण गुरु मुख से किया जाता है। व्रतान्त में चरूस्थालीपाक करके इन्द्र देव के लिए आहुति प्रदान की जाती है। दक्षिणा देकर साम गान पूर्वक इस व्रत का समापन करना चाहिए।

ज्येष्ठसामिक व्रत –

इस व्रत के भी विधि विधान पूर्व कथित व्रतों के ही समान है। संकल्पादि प्रारम्भिक क्रिया कलापों को करके औपनिषिदिक व्रतकाल में सुने गये रहस्य ग्रन्थों के तथ्यों के विषय में मनन इसी व्रतकाल में किया जाता है। यह व्रत व्यक्ति के जीवन पर्यन्त चलता है, क्योंकि चिन्तन

---

1. *जै0गृ0सू0 13/4-9 एवं मं0ब्रा0 1/6/10-14*
2. *गो0गृ0सू0 3/1/8*
3. *द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2/5/8*

का कोई अन्त नही होता। जब इस व्रत का समापन करना हो तो आचार्य मुख से आज्य दोहसाम का श्रवण करना चाहिए। ब्रह्मा व आचार्य को यथाशक्ति दक्षिणा प्रदान कर इस कार्य का समापन करना चाहिए।

आचार - विचार -

1. इस व्रत को करने वाला शूद्रा स्त्री से विवाह न करे।
2. मांस भक्षण का निषेध होना चाहिए।
3. किसी एक अन्न का परित्याग कर देनां चाहिए।
4. किसी एक देश का परित्याग कर देना चाहिए अर्थात् वहॉ कभी गमन न करे।
5. ऊन, कपास, शण, रेशम मे से किसी एक का परित्याग कर देना चाहिए।
6. मिट्टी के पात्र में न कभी भोजन करें न जल पीना चाहिए।
7. प्रतिदिन शौच क्रिया के लिए किसी एक ही पात्र का उपयोग करें।

महानाम्निक व्रत -

यह व्रत पंच व्रतों से अतिरिक्त है। क्रम में यह आदित्य व्रत के बाद में आता है। आदित्य व्रत के अन्तर्गत सुने गये वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन इस व्रत में किया जाता है। इस व्रत का काल बारह, नव, छः या तीन वर्ष निश्चित किया गया है। "शक्वरीणां द्वादशनवषट्त्रय इति विकल्पाः।"[1] "द्वादशमहानाम्निका संवत्सराः नव–षट्–त्रय इति विकल्पः।"[2] कुछ आचार्यों के मत में महानाम्निक व्रत का काल एक वर्ष भी हो सकता है। "संवत्सरमित्येके।"[3] ये विभिन्न समयाविधियॉ ब्रह्मचारी की शारीरिक अवस्था पर निर्भर करती हैं। एक वर्ष पर्यन्त चलने वाले महानाम्निक व्रत के सम्बन्ध में विद्वानों की ऐसी अवधारणा है कि महानाम्निक व्रत वही व्यक्ति कर सकता है जिसके पूर्वज इस व्रत को पहले कर चुके हों।

संकल्प व नान्दीश्राद्धादि कृत्यों को करके पूर्व कथित व्रतों के समान महानाम्निक शब्द व उसके काल का प्रयोग इस संकल्प में करना चाहिए तथा पूर्वकथित होमों के समान ही होम करना चाहिए।

---

1. *खा0गृ0सू0 व द्रा0गृ0सू0 2/5/22*
2. *गो0गृ0सू0 3/2/1-2*
3. *गो0गृ0सू0 3/2/3*

हाँथ में कुश को धारण करके आचार्य द्वारा कहे गये मंत्रों को उसी क्रम से पुनरावृत्ति करे। वेदी को संस्कृत कर होमानुसार आहुतियों को प्रदान करे। अन्त में तीनो व्याहृतियो से तीन व तीनो को मिलाकर चौथी आहुति प्रदान करना चाहिए। ब्रह्मचारी "ऊँअग्ने व्रतपते"[1] आदि पाँच मंत्रों से पाँच आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। "ऊँ ऋचं साम"[2] तथा "ऊँ सदसस्पतिम्"[3] मंत्रों से भी घृताहुतियों को प्रदान करना चाहिए। ब्राह्मण दो गाय, क्षत्रिय दो अश्व तथा वैश्य दो भेड़ दक्षिणा स्वरूप प्रदान करे। नाई को बकरा प्रदान करना चाहिए।

आचार - विचार -

गोदानिक व्रत करने वाले को निम्न आचार विचारों का पालन करना चाहिए –

1. भूमिशयन
2. मांस, मदिरा सेवन वर्जन
3. मैथुनराहित्य
4. अलंकार न धारण करना
5. शरीर को अन्य कृतिम साधनों से न सजाना
6. ज्यादा देर तक पैरों को न धोना
7. जो यान बैल से चल रहा हो उस पर न बैठना इत्यादि।

व्रातिक व्रत -

गोदानिक व्रत के ही समान सभी कृत्य व्रातिक व्रत में भी किये जाते है। संकल्प में 'गोदानव्रत के स्थान पर 'व्रातिक व्रत' पद का प्रयोग करना चाहिए। संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यों को करने के पश्चात् "ऊँ अग्ने व्रतपते"[4] आदि पंच मंत्रों से पॉच आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। इस व्रत का समायोजन जितने समय का होगा, आहुति प्रदान करते समय उसका भी समायोजन कर लेना चाहिए। गोदानिक व्रत में जिन – जिन ग्रन्थों का श्रवण ब्रह्मचारी किये रहता है, व्रातिक व्रत में उन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन किये जाते हैं। इस व्रत की समाप्ति पर चरूस्थालीपाक करके इन्द्र

---

1. जै०गृ०सू० 13/4-9 एवं मं०ब्रा० 1/6/10-14
2. जै०गृ०सू० 14/9 एवं सा०स०पू० - 4/2/9/10
3. जै०गृ०सू० 14/9 एवं सा०सं०पू० 2/2/8/7
4. जै०गृ०सू० 13/4-9 तथा मं०ब्रा० 1/6/10-14

आचार - विचार -

1. इस व्रत को करने वाला तीनों प्रहर स्नान करें।
2. काल रंग के वस्त्रों को पहनें।
3. पककर जो काले रंग की हो जाए ऐसी वस्तुओं का सेवन करें।
4. सायं व प्रातः काल की आहुतियों को प्रदान करने के पहले कभी भोजन न करें।
5. दूसरी शाखा द्वारा निर्देशिक मार्गों का अनुसरण न करें।
6. दिन में खड़ा रहकर तपस्वी जैसा जीवन व्यतीत करें, केवल सन्ध्योपासना के लिए बैठें।
7. केवल भिक्षार्थ ही बाहर जायें।
8. रात्रिकाल बैठकर ही व्यतीत करें।
9. यदि वर्षा में भीग रहे हों तो भी देवालय घर का सहारा न लें। जब तक जल वृष्टि होती रही तब तक "ऊँ आपो शक्वर्यः"[1] मंत्र का जप करते रहना चाहिए। जब मेघों की गर्जना हो तब "ऊँ मह्या महान् घोषः"[2] मंत्र का जप करना चाहिए।
10. किसी कारणवश यदि नदी पार करना हो तो नदी पार करने के पहले व बाद में स्नान करना चाहिए।
11. इस प्रकार यदि नौका पर चढ़ना पड़े तो नौका पर चढ़ने के पहले और उतरने के बाद में स्नान करना चाहिए।

आचार्य महानाम्निकस्त्रोत्रों का श्रवण तीन अलग – अलग भागों में ब्रह्मचारी को कराता है। ब्रह्मचारी श्रुत महानाम्निकस्त्रोत्रों का अभ्यास अरण्य में करता है। कांसे के पात्र में जल भरकर उसमें ब्रीहि, शालि, मुद्ग, गोधूम, यव, तिल, सर्षप व सर्वोषधि डालकर नए वस्त्र पहनकर उस जल में हाथों को डाले तथा तीन दिन तक निराहार रहें। तीन दिन के उपवासोपरान्त जंगल में ही वेदी को बनाकर उसे संस्कृत कर, उसमें अग्निस्थापित कर लेना चाहिए। सर्वप्रथम तीन व्याहृतियों से तीन आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। अग्नि, सूर्य, घृत, ब्राह्मण, अन्न, जल, वृषभ

---

1. *गो०गृ०सू० - 3/2/16*
2. *गो०गृ०सू० - 3/2/18*

व दधि को अलग – अलग अवलोकन करें व "ॐ स्वरभि व्यख्यम्"[1] मंत्र का उच्चारण अलग – अलग करता जावे। इन सबको तीन – तीन बार अवलोकित करना चाहिए। इन्द्र के लिए चरूथालीपाक करके "ॐ ऋचं साम"[2] तथा "ॐ सदसस्पतिम्"[3] मंत्रों से आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। यथाशक्ति दक्षिणा व सामगान पूर्वक इस व्रत का समापन करना चाहिए।

वैश्वदेव तथा बलिहरण –

वैश्वदेव और बलिहरण दो शब्द हैं और दो यज्ञ। विभिन्न देवताओं के लिए आहुति प्रदान करना वैश्वदेव है और नानाविधप्राणियों, ऋषियों व पितरों को बलि प्रदान करना बलिहरण है। सामवेदीय गृह्यसूत्र विशेष रूप से बलिहरण वर्णन में ही निरत है। ब्रह्म यज्ञ[4] विशिष्ट रूपेण भाष्य में ही उल्लिखित है। ये वैश्वदेव व बलिहरण नित्यकर्म हैं, इसलिए जीवन पर्यन्त करणीय है।

कुण्डस्थ गृह्याग्नि को रसोई में ले जाकर उसमें अन्न को पका लेना चाहिए। अन्न के पक जाने पर अग्नि को पुनः कुण्ड में स्थापित कर देना चाहिए। पक्वान्न को कुण्ड के पश्चिमी भाग में ही रखना चाहिए। यजमान स्नानादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके अग्नि के पश्चिमी भाग में पूर्व की दिशा की तरफ मुख करके बैठे। संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके अग्नि को परिसमूहित कर उसे प्रज्ज्वलित कर लेना चाहिए। यज्ञीय वस्तुओं का प्रोक्षण कर अग्नि में समिधा डालना चाहिए। "ॐ प्रजापतये स्वाहा" तथा "ॐ स्विष्टकृते स्वाहा" वाक्यों द्वारा पक्वान्न को हॉथ में उठाकर अग्नि में डालना चाहिए। ये दोनो वाक्य मन में ही उच्चारित होने चाहिए। अग्न्याधान विधि में प्रतिपादित नियमों के आधार पर अग्नि को पर्युक्षित करनी चाहिए। इस प्रकार वैश्वदेव क्रिया को करके बलि कर्म करना चाहिए। यह बलिकर्म वैश्वदेव से बचे हुए पक्वान्न से ही करनी चाहिए। अग्न्यागार के मध्य में बलि रखकर उस जल पर छिड़क कर शुद्ध कर देना चाहिए। बलि के चार भाग करके उसे अलग – अलग चार स्थानों पर रखकर पुनः उन पर चारो तरफ से जल छिडकना चाहिए। इन चारो भाग वाली बलियों में से प्रथम भाग पृथ्वी को, द्वितीय

---

1. *गो०गृ०सू० – 3/2/34*
2. *जै०गृ०सू० – 14/9 व सा०सं०पू० – 4/2/9/10*
3. *जै०गृ०सू० – 14/9 व सा०सं०पू० – 2/2/8/7*
4. *"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः" – कर्म प्रदीप – 2/3/3*

भाग वायु को, तृतीय भाग विश्वेदेव को और चौथा भाग प्रजापति को प्रदान करना चाहिए। इसके बाद दस बलियाँ और प्रदान करनी चाहिए जो क्रमशः औषधि, वनस्पति, आकाश, काम, मन्यु, इन्द्र, वासुकी, ब्रह्मा, रक्षोजन तथा अंत में दक्षिण दिशा में पितृगण को प्रदान करना चाहिए। पितृगण से अतिरिक्त नौ बलियों को मणिदेश, गृहमध्य, गृहद्वार, चारपाई के पास, कूडा रखने के स्थान , स्थूण आदि स्थानों के निकट रखना चाहिए। इन दश बलियों में से प्रथम चार बलियों को प्रदान करने के पश्चात् उनके उत्तर भाग में क्रमशः आगे के चार बलियों को तथा पुनः उनके उत्तर रक्षोजन के लिए एक बलि देकर जलस्पर्श कर लेना चाहिए। प्राचीनावीति होकर बलि दक्षिण तरफ पितरों को प्रदान की जाती है। ब्राह्मण के भोजन के लिए या स्वयं के भोजन के लिए जो अन्न पकाया गया हो उससे बलि प्रदान की जाती है। एक ही घर में यदि कई जगह भोजन पक रहा हो तो जो श्रेष्ठ हो उसके पक्वान्न से पितरों को बलि प्रदान की जाती है। परिवारजन बलि प्रदान किए जाने के पश्चात ही भोजन करें, लेकिन गर्भिणी स्त्री, बालक, रोगी के लिए ऐसा प्राविधान नही हैं। प्रातः काल में पुरूष व सायं काल में स्त्री बलि प्रदान करे। यदि किसी कारणवश यह बलिकर्म छूट जाय तो अगले दिन प्रायश्चित करके पुनः बलिकर्म प्रारम्भ करना चाहिए। यह बलिकर्म एक प्रहर छूट जाय तो प्रायश्चित स्वरूप चौबीस घण्टे का उपवास करना चाहिए। यदि पूरे दिन छूट जाय तो वैश्वानरीय स्थालीपाक करना चाहिए। सामवेदीय गृह्यसूत्र भूत, देव व पितृयज्ञार्थ बलिकर्म का विस्तृत वर्णन करते है, लेकिन नृयज्ञ अर्थात मनुष्य यज्ञ के निमित्त केवल "भाषेतान्नसंसिद्धिमतिथिभिः कामं संभाषेत्"[1] द्वारा संकेत मात्र करते हैं। केवल मनुष्य यज्ञ में ही संभाषण किया जाता है, लेकिन अन्य प्रसंगों में संभाषण का निषेध होता है।

उपाकर्म –

गोदान व्रत में जिन वैदिक ग्रन्थों का श्रवण किया गया हो, यदि उनका अभ्यास न किए गये हों तो उपाकर्म में उन ग्रन्थों का अभ्यास किया जाता है। इस कर्म को कब किया जाय? इस सन्दर्भ में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में पर्याप्त विवरण प्राप्त होते हैं। गोभिल गृह्यसूत्र का इस विषय में कहना है कि "प्रौष्ठपदीं हस्तेनोपाकरणम्"[2]। अर्थात् भाद्रपदी पौर्णमासी जब हस्तनक्षत्र से युक्त हो तो इस कृत्य को किया जाता है। द्राह्यायण व खादिर गृह्यसूत्रों का इस सन्दर्भ में कहना

---

1. गो०गृ०सू० – 1/4/2
2. गो०गृ०सू० – 3/3/1

है कि – "प्रौष्ठपदीं हस्तेनाध्यायानुपाकुर्युः"[1] अर्थात् भाद्रपद की जिस तिथि में पूर्वाह्न में हस्त नक्षत्र हो उसी दिन उपाकरण या उपाकर्म करें। किन्हीं विद्वानों की विचार धारा में इसको श्रावण की पौर्णमासी को करना चाहिए – "श्रावणीमित्येके"[2]। "श्रावण्यामुपाकरणम्"[3]।

स्नान व वृद्धि श्राद्ध करके, छन्द, ऋषि व आचार्य आदि की तर्पण क्रिया करके अग्नि के पश्चिम भाग में कुण्ड के पास बिछाये गये कुशों पर पूर्वाभिमुख होकर आचमनादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके अग्नि प्रज्ज्वलित कर उसमें तीन व्याहृतियों से तीन आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए। पंक्तिबद्ध बैठे हुए शिष्यों को उपनयन में जिस प्रकार गायत्री का पाठ कराया गया हो, उसी प्रकार अभ्यास कराना चाहिए। अभ्यासोपरान्त गायत्री (ऋचा) मंत्र को सामगान के रूप में आचार्यमुख से सुनकर शिष्य भी उसी रीति से गान करें। "ऊँ सोमं राजानाम्"[4] मंत्र को भी शिष्य गुरूमुख से सुनकर शिष्य उसी प्रकार सामगान करें। इसी तरह ऋग्वेदीय मंत्रों व उन पर आधृत सामगान, सामवेदीय ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं वेदागों के वाक्यों से आहुतियाँ प्रदान करें व अभ्यास करें। अपने कल्याण की भावना से अपनी दाहिनी भुजा में रक्षा को बाँधकर "ऊँ धानावन्तम्"[5] मंत्र से पहले से भून कर रखे गये यव एवं दधि से एक – एक क्रम से उठाकर निगल जावे व आचमन कर "ऊँ दधि क्राव्णो"[6] मंत्र से खावें। खाने के पश्चात सभी शिष्य आचमन करके पुनः इसी रीति से पंक्तिबद्ध होकर बैठ जावें। आचार्य भी रक्षासूत्र को धारण कर लेवें। फिर ऋग्वेदीय मंत्रों, ऋचाओं पर आश्रित साममंत्रों, सामवेदीय ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदागों का अध्ययन करावें। उपाकर्म के पश्चात् आरण्यकों का अध्ययन छोड़ दिया जाता है।[7] ब्राह्मण भोजन, यथाशक्ति दक्षिणा तथा सामगान पूर्वक इस कार्य का समापन करे।

---

1. द्रा०गृ०सू० व खा०गृ०सू० – 3/2/14

2. द्रा० व खा०गृ०सू० – 3/2/15

3. जै०गृ०सू० – 14/4

4. सा०सं०पू० – 1/2/10/1 तथा जै०गृ०सू० – 14/8

5. सा०सं०पू० – 3/1/2/7 तथा जै०गृ०सू० – 14/13

6. सा०सं०पू० – 3/1/2/7 तथा जै०गृ०सू० 14/13

7. खा०गृ०सू० व द्रा०गृ०सू० – 3/2/22

प्रायश्चित -

दोषों से विनिर्मुक्ति के लिए प्रायश्चित किया जाता है, चाहे वे दोष जाने या अनजाने किये गये कार्यों के परिणामस्वरूप हो। दोषों की शान्ति के लिए गायत्री मंत्र से चार आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। यदि घर में लगे हुए बाँस फट जाँय या कोई खम्भा टूट जाय तो इस दोष के परिहारार्थ तीनों व्याहृतियों से तीन आहुतियाँ व चौथी आहुति सम्पूर्ण मंत्र के साथ प्रदान करनी चाहिए। यदि कभी कोई अनिष्टकारी स्वप्न दिखलाई दे तो "ऊँ अद्य नो"[1] मंत्र का सस्वर जप करना चाहिए। कानों में अकारण शब्द सुनाई पड़ने पर नेत्रों के फड़कने पर, वेदि के समीप गाडे गये यूप का स्पर्श होने पर पाप भावना से इन्द्रिय स्पर्श होने पर, सूर्योदय व सूर्यास्त के पश्चात् सोने पर "ऊँ पुनर्मामैत्विान्द्रियम्"[2] तथा "ऊँ पुनर्मनः"[3] मंत्रों से घृताहुतियों को प्रदान करना चाहिए। यदि घृत न हो तो घृतयुक्त समिधा को ही अग्नि में प्रदान करना चाहिए। यदि किसी अपवित्र वस्तु का स्पर्श किया हो व पाप भावना ही आई हो इन्द्रिय स्पर्श न किया हो तो उपर्युक्त दोनो मंत्रों का केवल जप ही करना चाहिए।

अनध्याय -

अनध्याय का शाब्दिक अर्थ है न अध्याय अर्थात् अध्ययन न करना। सामान्य अध्ययन की तरह वेदाध्ययन नही होता। सामान्य अध्ययन हर समय किए जाते है लेकिन वेदाध्ययन किन्हीं – किन्हीं समयों में नही किया जाता, जिसे अनध्याय कहते हैं। यह अनध्याय कब – कब होना चाहिए इस विषय को सामवेदीय गृह्यसूत्रों के अनुसार इस प्रकार दर्शाया जा सकता है –

उपाकर्म से द्वितीय दिन तक अनध्याय होता है। उपाकर्म के समय जो नक्षत्र हो इस नक्षत्र में अनध्याय होना चाहिए। कुछ विद्वानों की सहमति में उपाकर्म से तीन दिन तक अनध्याय होना चाहिए।[4] उपाकर्म प्रकरण में यह बतलाया गया है कि कुछ आचार्यों की सहमति में उपाकर्म श्रावण मास की पूर्णिमा को किया जाता है। उन्हीं विद्वानों का कहना है कि उपाकर्म के पश्चात् तब तक अनध्याय रखे जब तक भाद्रपदमास मे हस्त नक्षत्र न आये। अन्य कई अवसर ऐसे है

---

1. साoसंoपूo – 2/1/527
2. मंoब्राo – 1/6/33
3. मंoब्राo – 1/6/34
4. गोoगृoसूo – 3/3/11

जिनमें अनध्याय होता है, जैसे – पुष्य नक्षत्र मयी तिथि के पड़ने, गाना बजाना होने, वर्षा होने तथा आकाशीय बिजली चमकनें, बादल छा जाने, किसी प्राकृतिक प्रकोप के होने, ग्रहण लगने, अमावस्या, अष्टका, किसी ब्रह्मचारी की मृत्यु, पौर्णमासी, किसी आचार्य के निधन, आदि स्थितियों में ।

इनसे विपरीत परिस्थितियों में वेदाध्ययन होता है।

समावर्तन संस्कार –

समावर्तन संस्कार गृहस्थाश्रम में प्रवेश द्वार है। गुरू की आज्ञा प्राप्त कर ब्रह्मचर्य की पूर्णावधि पर यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में ब्रह्मचारी स्नान कर ब्रह्मचर्य से मुक्त होता है। सर्वोषधि युक्त जल में स्नान का विधान है। कूट, जटामांसी, हल्दी, वच, शिलाजीत, कर्पूर, लाल चन्दन, भद्रमुस्ता को यहाँ सर्वोषधि की संज्ञा प्रदान की गयी है।

आचार्य परिवार पूर्व या उत्तर की तरफ मण्डपाच्छादन करके तेज की कामना करने वाला पूर्वाग्रासादित कुशों पर आचार्य व उत्तराग्रासादित कुशों पर पूरब मुख करके ब्रह्मचारी बैठे।[1] पशुओं का संवर्धन चाहने वाला ब्रह्मचारी गोशाले में स्नान के लिए बैठे।[2] यश की कामना करने वाला ब्रह्मचारी वहाँ स्नान के लिए बैठे जहाँ वेदाध्ययन किया जाता है।[3] दर्शपौर्ण मास में बतलाई गयी प्रकृयानुसार स्थालीपाक कर लेना चाहिए। उपकरणों को यथास्थान रखकर, संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके गर्म किए गये सर्वोषधि युक्त जल के ठण्डा हो जाने पर गुरु के आदेशानुसार "ऊँ ये ऽप्स्वन्तः"[4] मंत्र से एक जल की अंजलि लेकर "ऊँ यदपाम्"[5] मंत्र से जल की अंजलि द्वारा भूमि को अभिषिक्त करें। "ऊँ ये रोचनः"[6] "ऊँ यशसे तेजसे"[7] तथा "ऊँ येनास्त्रियम्"[8] इन तीनों मंत्रों से तीन बार जलांजलि को अपने सिर पर छोड़ें। चौथी बार बिना मंत्र के यथोचित

1. *खा०गृ०सू० व द्रा०गृ०सू० – 3/1/3*
2. *खा०गृ०सू० व द्रा०गृ०सू० – 3/1/4*
3. *खा०गृ०सू० व द्रा०गृ०सू० – 3/1/5*
4. *मं०ब्रा० – 1/7/1*
5. *मं०ब्रा० – 1/7/2*
6. *मं०ब्रा० – 1/7/3*
7. *मं०ब्रा० – 1/7/4*
8. *मं०ब्रा० – 1/7/5*

रूप में स्नान करना चाहिए। स्नान से निवृत्त होकर "ऊँ उद्यन्"[1] मंत्र से सूर्य की स्तुति करना चाहिए। इस मंत्र के द्वितीय अन्तिम चरण में प्रातः, मध्यान्ह या सायं जो समय हो उसका समायोजन कर लेना चाहिए। ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचर्य के समय जो मेखला धारण किया था उसे पैरों के तरफ से "ऊँ उदुत्तमम्"[2] मंत्र द्वारा निकाल देवे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए लोगो को भोजन करवाकर व स्वयं भोजन करके दाढ़ी मूँछ को कटवा लेना चाहिए। विभिन्न प्रकार के वस्त्रों व अलंकारों से स्वयं शरीर को अलंकृत करना चाहिए। "ऊँ श्रीरसि"[3] मंत्र द्वारा फूलों की माला को भी धारण कर लेना चाहिए। "ऊँ नेत्र्यौ"[4] तथा "ऊँ गन्धर्वः"[5] इन दोनो मंत्रों से क्रमशः जूता व पगडी को धारण करना चाहिएं। ऊँ यथमिव[6] मंत्र से सभासहित या आचार्य को देखे। आचार्य के पास आसीन होकर मुख, नेत्र, कान व नाक का स्पर्श "ऊँ ओष्ठापिधाना"[7] मंत्र पूर्वक करना चाहिए। इसके बाद आचार्य मधुपर्क विधि से उस ब्रह्मचारी की पूजा करे। "ऊँ वनस्पते"[8] मंत्र से रथ के पहिये का ब्रह्मचारी स्पर्श करे व मंत्र के पूर्ण हो जाने पर रथ पर बैठ जावे। अपने निवासस्थान के चतुर्दिक उसी रथ से भ्रमण करके पुनः आचार्य के पास आ जाना चाहिए। लोगों को भोजन व दक्षिणा देकर इस संस्कार का समापन करना चाहिए।

स्नातक –

स्नातक पारिभाषिक शब्द है। यह ब्रह्मचारी की एक संज्ञा है, ब्रह्मचर्य समाप्त कर समावर्तन कर लेने के बाद ब्रह्मचारी इस संज्ञा से युक्त होता है। गोभिल गृह्यसूत्र में स्नातक के तीन प्रकार बतलाये गये हैं[9] – विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक। इनको इस प्रकार

---

1. *मं०ब्रा० – 1/7/6*
2. *जै०गृ०सू० – 17/8 व मं०ब्रा० – 1/7/10*
3. *मं०ब्रा० – 1/7/11*
4. *मं०ब्रा० – 1/7/12*
5. *मं०ब्रा० – 1/7/13*
6. *मं०ब्रा० – 1/7/14*
7. *मं०ब्रा० – 1/7/15*
8. *मं०ब्रा० – 1/7/16*
9. *गो०गृ०सू० – 3/5/22*

स्पष्ट किया जा सकता है –

जो स्नातक पच्चीस वर्ष की अवस्था होने के पूर्व सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करके समावर्तन कर लिए हो वे विद्यास्नातक कहलाते हैं। जो पच्चीस वर्ष की अवस्था तो प्राप्त कर लिए होते है परन्तु वेदाध्ययन पूर्ण नही हुआ रहता है, उन्हें व्रत स्नातक कहा जाता है, तथा जो पच्चीस वर्ष की अवस्था होते – होते सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन भी पूर्ण कर लिए रहते है उन्हें विद्याव्रत स्नातक कहा जाता हैं।

स्नातक के आचार विचार –

स्नातक वृद्धों के स्वभाव का अनुकरण करें तथा उनका सम्मान करें। शास्त्रविहित स्त्री के साथ विवाह करके गर्भाधान क्रिया करें। द्विपस्व, अशुद्ध स्थान से लाये गये व बासी भोजन को कभी भी न खायें। जब वर्षा हो रही हो तो कभी बाहर न जायें। कुएं के भीतर न देखें। जूतों को हॉथों से न निकालें। वृक्ष पर कभी न चढ़ें। स्वर्ण या मणियों को छोड़कर गंधहीन माला को कभी न धारण करें। माला के लिए 'स्रक्' शब्द का उच्चारण न करें। गीले वस्त्रों को न धारण करें। हमेशा सत्य ही बोलें। दो वस्त्रों को हमेशा धारण करें। कभी भी मानव स्तुति न करें। सायंकाल में कभी भी दूसरे ग्राम में न जायें। जिस मार्ग पर गमनागमन कम होता हो उस मार्ग पर न जायें। सभी शिष्ट लक्षणों को अपने व्यवहार में लायें।

गोयज्ञ तथा अश्वयज्ञ –

गायों व अश्वों की सम्पुष्टि के निमित्त गोयज्ञ व अश्वयज्ञ किए जाते हैं। गौवों की रक्षा पर यज्ञ आघृत होते हैं, क्योकि यज्ञ के लिए अनिवार्य घृत गायों से ही सम्भव है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में गोपुष्टि के लिए गवानुमंत्रण, गायों के प्रसव के समय श्लेष्मा का भक्षण, विलयन होम बछड़ों के कानों को छेदना, उन्हें दागना आदि क्रियाएं की जाती हैं। इन क्रिया कलापों को क्रमबद्ध रूप में इस प्रकार अभिव्यक्ति किया जा सकता है –

गायों के चरने के जाने के पूर्व नान्दी श्राद्ध तथा संकल्पादि कार्यों को करके "ऊँ इमा में"[1] मंत्र द्वारा गायों का निरीक्षण करें। चरकर घर लौटी हुयी गायों को "ऊँ इमामधुमती"[2] मंत्र पूर्वक देखे।

---

1. मं0ब्रा0 – 1/8/1

2. मं0ब्रा0 – 1/8/2

जब सर्वप्रथम प्रसव करें तब श्लेष्मा लगे हुए बछड़े के सिर को "ऊँ गवाम्"[1] मंत्र द्वारा जिसका उच्चारण मन में ही किया जा रहा हो, चाटें। यह क्रिया गाय के बछड़े को चाटने के पूर्व ही करना चाहिए।

इन दोनों क्रियाओं के बाद विलयन होम का क्रम आता है, जिसका घृत न निकाला गया हो और मन्थन किया गया हो ऐसी दधि से किया गया होम विलयन होम कहलाता है। प्रारम्भिक क्रियाओं को करके एक ही स्थान में प्रसव की हुयी सम्पूर्ण गायों को बाँधकर भूरादिव्याहृतियों से रहित क्षिप्रहोमानुसार "ऊँ संग्रहणम्"[2] मंत्र से विलयन होम करना चाहिए।

गायों के सम्पोषण के लिए उनके दोनो कानों के छेदन की भी क्रिया की जाती है। नान्दीश्राद्ध व संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके "ऊँ भुवनमसि"[3] तथा "ऊँ गोपोषणमसि"[4] इन दो मंत्रों द्वारा कर्णछेदन करे अथवा दागें। कर्णछेदन क्रिया ताँबे या गूलर निर्मित क्षुर से करना चाहिए।[5] यदि एक ही साथ बछड़ा या बछिया उत्पन्न हुयी हो तो पहले बछड़े का फिर बछिया का कर्णछेदन करना चाहिए। पहिले दाहिने कान को फिर बायें कान को छेदना चाहिए। छिदे हुए कानों को "ऊँ लोहितेन"[6] मंत्र द्वारा अनुमंत्रित करना चाहिए। जिस रस्सी में बछड़ा बँधा हो उसे फैलाकर पुनः समेटना चाहिए और इस समय "ऊँ इषं तन्वी"[7] मंत्र का प्रयोग करना चाहिए।

गोयज्ञ को करने के विधान के विषय में भी सामवेदीय गृह्यसूत्रों में उल्लेख प्राप्त होता है। इस यज्ञ को पुण्य नक्षत्र में संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यों को करके पौर्णमास में कही गई रीति के अनुसार स्थालीपाक करना चाहिए। गोयज्ञ में पायस चरु होता है।[8] अग्नि, पूषा, इन्द्र व

---

1. *मं0ब्रा0 – 1/8/3*
2. *मं0ब्रा0 – 1/8/4*
3. *मं0ब्रा0 – 1/8/5*
4. *मं0ब्रा0 – 1/8/6*
5. *गो0गृ0सू0 में औदुम्बर शब्द का प्रयोग ताँबे के लिए किया गया है। (3/6/5), खा0गृ0सू0 व द्रा0गृ0सू0 में औदुम्बर शब्द का अर्थ गूलर किया गया है। (3/2/46)*
6. *मं0ब्रा0 – 1/8/7*
7. *मं0ब्रा0 – 1/8/8*
8. *गो0गृ0सू0 – 3/6/10*

ईश्वर की पूजा चरु से करनी चाहिए। बैल की सींग को गन्धमाला, धण्टा, आभूषणादि से सजाकर उसकी पूजा करें। ब्राह्मण को दक्षिणा देकर वामदेव्यगान पूर्वक इस कृत्य को समाप्त करना चाहिए।

क्रम प्राप्त द्वितीय यज्ञ, अश्व यज्ञ है। इस यज्ञ में गायों की पुष्टि के ही समय अश्वों की पुष्टि के लिए अश्वयज्ञ का विधान किया गया है। अश्वयज्ञ के सभी कृत्य गोयज्ञ के ही समान होते है, केवल अन्तर इतना है कि अग्नि, पूषा, इन्द्र और ईश्वर को आहुतियॉ प्रदान करने के पश्चात् यम और वरूण को दो और आहुतियॉ प्रदान की जाती हैं।[1]

श्रवणाकर्म –

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, श्रावण मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यह कर्म श्रवणाकर्म कहलाता है – "पौर्णमास्यां कृत्यम्"।[2] यह आजीवन चलने वाला कर्म है। श्रवणाकर्म का काल है, श्रावणमास की पूर्णिमा से लेकर अगहन मास की पूर्णिमा।

श्रावणी पौर्णमासी के दिन दैनन्दिन क्रियाओं से मुक्त होकर सर्वप्रथम नान्दी श्राद्ध करें। स्थापित गृह्यग्नि से पूर्वदिशा की तरफ कुछ दूर हटकर, एक वेदि निर्मित कर उसे संस्कृत कर उसमें गृह्यग्नि स्थापित कर देना चाहिए। नवीन निर्मित वेदि के चतुर्दिक तीन पग भूमि गोमय से लीपकर उसके उत्तर भाग में प्रौक्षित जौ को हँड़िया में एक ही बार भूनें। भुने हुए जौ को अग्नि के पश्चिम भाग में रखी हुई उलूखल में डालकर, कूटकर सत्तू बना लेना चाहिए। प्रणीता में सत्तू को रखकर सूप से ढ़ककर यज्ञशाला में रख देना चाहिए। यह सत्तू बनाने कि क्रिया प्रातः काल में होनी चाहिए। इसी दिन सायंकाल के समय अर्थात् सूर्य के अस्तंगत हो जाने पर गृह्यग्नि और नवीन वेदि में स्थापित अग्नि के मध्य भाग में पश्चिम–दक्षिण के कोण में जाकर पूरब मुख करके बैठना चाहिए। सत्तू को प्रणीत से सूप में डालकर चमस को जल से भर लेना चाहिए। पुनः यहॉ से उठकर पूरब भाग में लीपे हुए स्थान पर बैठ जाना चाहिए। चमस से थोड़ा सा जल छोड़कर थोड़े से सत्तू को दर्वी से लेकर छोड़े गये जल पर "ऊँ यः प्राच्याम्"[3] मंत्र से बलि प्रदान करें। बलि

---

1. *गो०गृ०सू० – 3/6/13*
2. *गो०गृ०सू० – 3/7/1*
3. *मं०ब्रा० – 2/1/1*

पर थोडा सा जल चमस से पुनः डाल देना चाहिए। इसी ढ़ंग से दक्षिण, पश्चिम पूर्व तथा उत्तर दिशाओं में उनके नामोंल्लेख पूर्वक बलि प्रदान करना चाहिए। ये बलियॉ सर्पराज के लिए प्रदान की जाती हैं। जो सत्तू बच जाय उसे प्राचीन स्थापित गृह्याग्नि में बिना मंत्र के ही डाल देना चाहिए। इसी गृह्याग्नि के पश्चिम में पूरब मुख करके अंगुलियों को भूमि पर रखकर "ऊँ नमः पृथिव्यै"[1] मंत्र का जप करना चाहिए। उसी दिन रात्रि के प्रथम प्रहर में पायस चरू का पाक करें। श्रवणा, विष्णु , अग्नि, प्रजापति व विश्वेदेवों के लिए 'स्वाहा' शब्द के साथ पॉच आहुतियॉ प्रदान करनी चाहिए। अग्नि के उत्तर तरफ कुशपुंज को स्थापित करके "ऊँ सोमो राजा"[2] तथा "ऊँ यां सन्ध्याम्"[3] इन दोनों मंत्रों का जप करना चाहिए। वामदेव्यगान पूर्वक इस कार्य का समापन करना चाहिए।

इस क्रिया के द्वितीय दिन गृह्याग्नि में सत्तू तैयार करके किसी पात्र में रखकर अग्निशाला में रख देवें। सायं व प्रातः मौन भाव से बलि प्रदान करना चाहिए।

आग्रहायणी कर्म -

बलि प्रदान किये जाने वाले श्रवणा कर्म के ही समान आग्रहायणी कर्म भी है। अगहन मास की पूर्णिमा के दिन किए जाने से इसे आग्रहायणी कर्म कहते है। इसकी सभी प्रकृयायें श्रवणाकर्म की समान होती है।[4] इसमें कुछ कर्म श्रवणा कर्म से भिन्न होते है, यथा इस कर्म में "ऊँ नमः पृथिव्यै"[5] मंत्र का जप नही किया जाता। प्रातः कालीन आहुतियों को प्रदान करने के बाद बिना मंत्र के ही अक्षत व सत्तू अग्नि में डालकर पुरोहितों द्वारा स्वस्तिवाचन उच्चारित किए जाने के पश्चात् दर्म, शमी, वीरण, शिरीष, सफल बेरशाखा तथा अपामार्ग को अग्नि में सुलगाकर अग्न्यागार से लेकर सभी गृहों में घूमते हुए इन वस्तुओं को फेंक देना चाहिए। बालू मिश्रित तीन वेदिकाओं को निर्मित कर तीन बड़े – बड़े जलभाण्डों को "ऊँ वास्तोष्पते"[6] मंत्र द्वारा स्थापित करके उनमें "ऊँ

---

1. *मं0ब्रा0 - 2/1/5*
2. *मं0ब्रा0 - 2/1/6*
3. *मं0ब्रा0 - 2/1/7*
4. *द्रा0गृ0सू0 - 3/3/16 तथा गो0गृ0सू0 3/9/2*
5. *मं0ब्रा0 - 2/1/5*
6. *सा0सं0पू0 - 3/2/9/3*

समन्या"[1] मंत्र द्वारा जल आपूर्ण कर देना चाहिए।

इसी दिन सायं काल में सत्तू की बलि प्रदान करने के पश्चात् पायस चरू स्थालीपाकर करना चाहिए। पायस चरू की आहुति "ऊँ प्रथमा हव्युवास"[2] मंत्र द्वारा प्रदान करना चाहिए। पौर्णमास विधि से स्विष्टकृत आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। अग्नि के पश्चिम में अंगुलियों को कुशों पर रखकर "ऊँ प्रतिक्षेत्रे"[3] आदि दो मंत्रों का व व्याहृतियों का जप करना चाहिए। वामदेव्य गान पूर्वक इस कृत्य का समापन करना चाहिए।

आश्वयुजी कर्म –

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है आश्विन (क्वार) मास की पौर्णमासी को किया जाने वाला कर्म आश्वयुजी कर्म कहलाता है। यह प्रत्येक आश्विनी पूर्णिमा को किया जाता है। जब सर्वप्रथम इसे प्रारम्भ किया जाता है तो स्वस्तिवाचन, संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके गणेश पूजन करना चाहिए। दूध, दधि व घृत (पृषातक) को मिलाकर हवि तैयार कर रूद्र देव के लिए निर्वाप करना चाहिए। पौर्ण मास यज्ञ के समान दूध व चरू प्रदान करना चाहिए। पूर्वोक्त उपस्तीर्णाभिधारित विधि से "ऊँ आनो मित्रा वरूणा"[4] तथा "ऊँ मानस्तोके"[5] इन दो मंत्रों से दो आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। गो नामों के आधार पर आठ आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए।[6] यजमान अग्नि की परिक्रमा करके उस पृषातक को "ऊँ तच्चक्षुः"[7] मंत्र द्वारा ब्राह्मणों को दिखलावे। पृषातक को ब्राह्मणों को खिलाकर तथा स्वयं खाकर आचमन करके सर्वोषधि तथा लाक्षामयी मणियों को एक वस्त्र में बाँधकर अपने दाहिने हाथ में बाँध लेना चाहिए। सायंकाल में गायों को भी पृषातक पिलाकर उन्हें वत्सों के साथ बाँध देना चाहिए। इससे पशुओं का भी कल्याण होता है। ब्राह्मणों को यथाशक्ति दक्षिणा प्रदान करके इस कार्य का समापन करना चाहिए।

---

1. *जै०गृ०सू० – 16/3 तथा ऋ०सं० 2/4/35/3*
2. *मं०ब्रा० – 2/2/1*
3. *मं०ब्रा० – 2/2/2–3*
4. *सा०सं०पू० – 3/1/3/7*
5. *मं०ब्रा० – 2/1/8*
6. *गृ०सं० – 2/60*
7. *वा०सं० – 36/24*

स्वस्तरारोहण –

स्वस्तर का अर्थ है विस्तर और आरोहण का अर्थ है बिछाना। यह भी कल्याणार्थ कर्म है। अग्नि के पश्चिम भाग में उत्तराग्र बिछाये गये कुश के आसन पर ऊन या कपास के बने हुए बिस्तर को विछावें। उस बिस्तर पर दक्षिण पूर्व दिशा की तरफ मुख करके गृहस्वामी बैठ जॉय। गृहस्वामी के बायीं तरफ ज्येष्ठ क्रम से अन्य भाई बैठ जॉय। बड़ी – छोटी क्रम से स्त्रियाँ भी बैठ जॉय। सभी के स्वस्तरासीन हो जाने पर गृहस्वामी स्वस्त्ययन मंत्रों का उच्चारण करे। इसके बाद दोनो हॉथों को नीचे करके "ऊँ स्योना"[1] मंत्र का जप करे। मंत्र जप के पश्चात् पूरब शिर करके दाहिनी करवट लेट जॉय, यह क्रम तीन बार होना चाहिए। जो लोग स्वस्त्ययन मंत्रों को जानते है, उच्चारण करें। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की अवधारणा है कि इस समय अरिष्ट साम का उच्चारण करना चाहिए। जलस्पर्श पूर्वक इस कर्म का समापन करना चाहिए।

नवयज्ञ –

नवीन उत्पन्न हुए अन्न से किया जाने वाला यज्ञ नवयज्ञ कहलाता है। जिस दिन यज्ञ करने की इच्छा हो उस दिन दैनन्दिन कार्यों को पूर्ण करके पौर्णमास यज्ञ में कहे गये नियमों के अनुसार "स्थालीपाक" करना चाहिए। इन्द्राग्नि के नाम से निर्वाप क्रिया होगी। चरू तैयार हो जाने पर इन्द्राग्नि के नाम से ही मुख्य आहुति देय होगी। मुख्य आहुति प्रदान करने के बाद चार आहुतियॉ घृत की प्रदान होगीं। प्रथम आहुति का मंत्र "ऊँ शतायुधाय"[2] द्वितीय आहुति का – "ऊँ ये चत्वारः"[3] तृतीय आहुति का – "ऊँ गृष्मो हेमन्त"[4] और चौथी आहुति का – "ऊँ इदवत्सराय"[5] होगा। इस चारों आहुतियों को प्रदान करने के पश्चात् दक्षिण हॉथ से बायें हॉथ में जल लेकर अवशिष्ट हवि के मध्य व पूर्वाद्ध में दो बार छिड़कें। यज्ञकर्ता यदि पंचप्रवरीय हो तो जल मध्य पूर्व एवं पश्चात् भाग में तीन जगह छिड़कें। चरूप्राशन "ऊँ भद्रान् नः"[6] मंत्र द्वारा करे। इस प्रकार तीन

---

1. मं०ब्रा० – 2/2/4
2. मं०ब्रा० – 2/1/9
3. मं०ब्रा० – 2/1/10
4. मं०ब्रा० – 2/1/11
5. मं०ब्रा० – 2/1/12
6. मं०ब्रा० – 2/1/13

बार भक्षण मंत्र युक्त होगा, लेकिन चौथी बार बिना मंत्र के ही होगा। ये चारो बार के प्राशन कार्य बिना स्वाद लिए ही होगें। इसके बाद स्वाद के साथ प्राशन होगें। जो लोग वहाँ उपस्थित हों उनको चरू प्राशन कराना चाहिए। "ऊँ अमोऽसि"[1] मंत्र द्वारा चरू प्राशन के बाद मुखादि अंगों का स्पर्श करना चाहिए। यदि नवयज्ञ कर्ता वानप्रस्थी हो तो "ऊँ अग्निप्राश्नातु"[2] मंत्र द्वारा सावाँ की हवि का प्राशन करे। जैमिनि गृह्यसूत्र में इस मंत्र में शब्दों के क्रम के विषय मे अन्तर है।[3] "ऊँ एतमुत्यम्"[4] मंत्र द्वारा यव की हवि का प्राशन करना चाहिए। अन्त में इस यज्ञ का समापन करते समय वामदेव्यगान करना चाहिए।

अष्टका –

पुष्टि की कामना से अष्टका नामक यज्ञ किया जाता है, "पुष्टिकर्म्म"[5]। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अष्टका त्रिविध प्रकार की बतलाई गयी है। इन तीनों प्रकार की अष्टकाओं का वर्णन करने के पूर्व कौत्स की विचारधारा में चार एवं गौतम, वार्कखण्डी तथा औद्गाहमनि नामक आचार्यों की विचारधारा में तीन अष्टकाओं का उल्लेख किया गया है। अष्टका के विषय में आचार्यों में मतभेद है कोई इसका देवता अग्नि को मानता है, कोई पितृगण और कोई प्रजापति को इसका देवता मानता है। तीन अष्टकायें इस प्रकार है – अपूपाष्टका, मध्यमाष्टका और अन्वष्टका। क्रमशः इनका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है –

अपूपाष्टका –

अपूप का अर्थ है मालपुआ, अर्थात् मालपूये द्वारा सम्पन्न होने के कारण इस अष्टका को अपूपाष्टका के नाम से जाना जाता है। यह अष्टका पौषमास के कृष्णपक्ष की अष्टमी को की जाती है। दैनन्दिन क्रियाओं को करके अग्निस्थापित कर, पात्रों को यथास्थान रखकर चरू के लिए कुछ चावल रखकर कुछ चावल सील पर मालपुआ बनाने के लिए पीस लेवें। आठ मालपुओं को आठ कपालों में रखकर पका लेवें तथा चरू को भी पका लेवें। चरू व मालपुओं पर घी डालकर

---

1. *मं०ब्रा० – 2/1/14*
2. *मं०ब्रा० – 2/1/15*
3. *जै०गृ०सू० – "अग्निः प्रथमः प्राश्नातु" – 25/31*
4. *मं०ब्रा० – 2/1/16 – जै०गृ०सू० – 25/1*
5. *गो०गृ०सू० – 3/10/2*

स्थापित की गयी अग्नि के उत्तर भाग में उतार लेवें और इन पर पुनः घी डाल देवें। प्रत्येक मालपुआ के भाग तथा चरू का भाग लेकर अष्टा के लिए आहुति प्रदान करनी चाहिए। स्विष्टकृतादि आहुतियों को प्रदान कर इस अष्टका का समापन करना चाहिए।

मध्यमाष्टका –

मध्यमाष्टका मांस द्वारा सम्पादित की जाती है, इसलिए इसे मांसाष्टका के नाम से भी जाना जाता है। मध्यमाष्टका माघ मास की कृष्णाष्टमी को की जाती है।[1] प्रारम्भिक यज्ञीय कार्यों को करके सन्धि काल में स्थापित अग्नि के पूर्व भाग में गौ खड़ा करके "ऊँ यत् पशवः"[2] मंत्र से आहुति प्रदान करनी चाहिए। यवमिश्रित जल, पवित्र क्षुर, शाखा, विशाखा, बर्हि, इध्म, आज्य समिधा स्रुवा आदि को यथास्थान रखकर "ऊँ अनुत्वा"[3] मंत्र से अनामिका अगुलि द्वारा उस गाय का स्पर्श करना चाहिए। यह स्पर्श आलम्भनार्थ आमंत्रण सूचक होता है। यव मिश्रित जल से "ऊँ अष्टकायै त्वा जुष्टम्"[4] मंत्र द्वारा गौ को प्रोक्षण करें। अग्नि को प्रज्ज्वलित कर "ऊँ परिवाजपतिः"[5] मंत्र से उसकी प्रदक्षिणा करनी चाहिए। यव मिश्रित जल को पशु को पिलाकर बचे हुए जल को "ऊँ आन्तदेवेभ्यः"[6] मंत्र से पशु के नीचे की तरफ फेंक देना चाहिए। देवकार्यार्थ पशु को अग्नि के ऊपर पूरब सिर एवं उत्तर पैरों को करके आलम्भित करें। यदि पितृ कार्य के लिए आलम्भन करना हो तो दक्षिण सिर एवं पश्चिम पैर होना चाहिए। पशु के मृत हो जाने पर "ऊँ यत् पशुः"[7] मंत्र द्वारा घृताहुति प्रदान करनी चाहिए। सपत्नीक यजमान दर्भ से मृत पशु के शिख, नाक, मुख, आँख, स्तन कान, नाभि आदि अंगों को प्रक्षालित करे। नाभि पर रखे गये पवित्र के अग्रभाग को पूर्व की तरफ

---

1. *"तैष्याऊर्ध्वमष्टम्यां गौ" – गो0गृ0सू0 3/10/14*
2. *मं0ब्रा0 – 2/2/5*
3. *मं0ब्रा0 – 2/2/6*
4. *गो0गृ0सू0 पृष्ठ 705*
5. *वा0सं0 11/25*
6. *मं0ब्रा0 – 2/2/7*
7. *मं0ब्रा0 – 2/2/8*

करके पेट के चमड़े को सीधा चीरना चाहिए। वपा अर्थात् मेदा निकालकर शाखा व विशाखा पर रखकर प्रोक्षित कर अग्नि पर पका लेना चाहिए। अग्नि के पूर्व में बिना रक्त गिरे भूमि पर पशु मांस निकालना चाहिए। पकी हुयी वपा पर घी डालकर उतारकर अग्नि के उत्तर उतार कर पुनः घी डाल देना चाहिए। वपा को पूर्वाद्ध या उत्तरार्द्ध से लेकर आहुति प्रदान करनी चाहिए। पंचप्रवरीय यजमान मध्यभाग से भी आहुति प्रदान करे। बचे कार्य स्थालीपाक की विधि के अनुसार करे।

वपा का होम करने के पश्चात् अग्नि के उत्तर भाग में दो उलूखल, मूसल, पवित्र मेक्षण व धान, तीन कांस्यस्थाली आदि को स्थापित करें। चावल को कूटकर प्रक्षालित कर एक पात्र में रख देना चाहिए। पशु के चौदह अंगों से काटकर मांस को भी एक पात्र में रख देना चाहिए। ओदन चरू व मांस चरू को अलग – अलग पात्रों में पकाना चाहिए। दोनो चरूओं के पक जाने पर उनमें घी डालकर उतारकर पुनः घी डाल देना चाहिए। अग्नि के प्रज्ज्वलित हो जाने पर मांस की स्थाली में मांस रखकर कुशों पर रखना चाहिए। एक स्थाली में मांस को अलग–अलग रखें और द्वितीय स्थाली में मांसों को बारह भागों में विभक्त कर रख देना चाहिए। तीसरी स्थाली में मांस को पूर्वाद्ध और उत्तरार्द्ध से थोड़ा – थोड़ा लेकर रखना चाहिए। तीसरी स्थाली में बेल के बराबर मात्रा में ओदन चरू को पूर्वाद्ध और उत्तरार्द्ध क्रम में रखना चाहिए। दूसरी स्थाली में भी मांस मे थोड़ा सा ओदन चरू मिलाना चाहिए। "ऊँ अग्नावग्निः"[1] मंत्र से घी की चार आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। प्रथम स्थाली से एक तिहाई मांस लेकर स्रुचि में रखकर "ऊँ औलूखलाः"[2] मंत्र से 'स्वाहा' शब्द रहित आहुति प्रदान करनी चाहिए। "ऊँ इडायास्पदं"[3] मंत्र द्वारा आहुति प्रदान करते समय 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। तीसरे भाग के बराबर हवि लेकर "ऊँ एषैव"[4] तथा "ऊँ एषैव"[5] मंत्रों से आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए। मं0ब्रा0 2/2/12 के साथ 'स्वाहा' का उच्चारण होगा, लेकिन मं0ब्रा0 – 2/2/13 के साथ 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण नही होगा। अवशिष्ट हवियों से छठवीं आहुति के साथ "ऊँ या देवाः"[6] मंत्र उच्चारित होगा व सातवीं के साथ

1. *मं0ब्रा0 – 2/2/9*
2. *मं0ब्रा0 – 2/2/10*
3. *मं0ब्रा0 – 2/2/11*
4. *मं0ब्रा0 – 2/2/12*
5. *मं0ब्रा0 – 2/2/13*
6. *मं0ब्रा0 – 2/2/14*

"ऊँ संवत्सरस्य"[1] मंत्र। छठवीं आहुति के साथ 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण न होगा तथा सातवीं के साथ 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण होगा।

अन्तिम स्थाली से सभी हवियों को लेकर "ऊँ अन्वियन्नों"[2] मंत्र द्वारा स्वाहाकार के साथ आहुति प्रदान करना चाहिए। अवशिष्ट कार्यों को पौर्णमास यज्ञ की विधि के अनुसार करके इस कार्य का समापन करना चाहिए।

यदि यज्ञार्थ गौ उपलब्ध न हो सके बकरे से ही यज्ञ करें। यदि बकरा भी उपलब्ध न हो सके स्थालीपाक, यदि स्थालीपाक भी सम्भव न हो सके तो गौ को ग्रासमात्र खिला दे, यदि इतना भी न हो सके तो जंगल में जाकर अपने दोनों हाँथों को ऊपर उठाकर "एषा में अष्टका" इतना ही कह देवें।

अन्वष्टका –

प्राक्प्रोक्त मध्यमाष्टका में ही एक और अष्टका की जाती है जिसे अन्वष्टका के नाम से जाना जाता है। माघ महीने की कृष्णाष्टमी के पश्चात् आने वाली नवमी या दशमी को यह यज्ञ किया जाता है। घर के दक्षिण व पूर्वीय भाग में आठ पग की दूरी पर पश्चिम के तरफ मुखवाली यज्ञशाला को निर्मित करना चाहिए। प्रारम्भिक कार्यों को करके वेदि को निर्मित करना चाहिए। वेदि को संस्कृत करके अरणि मंथन द्वारा नयी अग्नि की स्थापना करनी चाहिए। सूप, उलूखल, चावल, मूसल, चरूस्थालियाँ, काष्ठ के शंकु मेक्षण, कुश, पीढ़ा, स्रुव आदि उपकरणों को वेदि के पश्चिमी भाग में रखना चाहिए। सम्पूर्ण धान को एक ही बार में कूटकर सूप से पछोर कर जल से धोकर साफ कर लेवें। मध्यमाष्टका में रखे हुए पशु मांस को छोटे – छोटे टुकड़ों में काटकर एक पात्र में पका लेवे और दूसरे में ओदन चरू को पका लेना चाहिए। यदि मध्यमाष्टका मांस द्वारा न सम्पपादित हुयी हो तो उस समय के सुरक्षित चावल को ही पका लेना चाहिए। दोनो को पकाकर घी डालकर अग्नि के दक्षिण भाग में उतार कर रख देना चाहिए। अग्नि के दक्षिण तरफ एक विलस्त लम्बे चार अंगुल चौड़े और डेढ़ अंगुल गहरे तीन गड्ढ़ों को खोदकर पहले गड्ढे की भूमि को परिमार्जितकर उसमें अग्नि स्थापित कर लेना चाहिए। अवशिष्ट दो गड्ढ़ो को भी परिमार्जित कर लेना चाहिए। पहले गड्ढ़े के पास कुश बिछाकर उस पर पीढ़ा रख देना चाहिए। बिछाये हुए

---

1. *मं०ब्रा० – 2/2/15*
2. *मं०ब्रा० – 2/2/16*

कुशों पर यज्ञ की सामग्रियों को रख देना चाहिए। यजमान पत्नी चन्दन को तैयार करे। चन्दन में कस्तूरी, हल्दी, केशर, कपूर आदि सामग्रियाँ होगीं। अंजन तैयार करके तीन कुश मुष्टियों को बीच में रंगकर तीनों गड्ढ़ों के पास तीन अनिन्द्य ब्राह्मणों को बैठाना चाहिए। कुशों पर प्राचीनावीति ब्राह्मणों को बैठाकर "ऊँ ये चात्र"[1] मंत्र द्वारा तिल मिश्रित जल स्पर्श कर गन्ध प्रदान करे। आहुति प्रदान करने की आज्ञा "ऊँ अग्नौ करिष्यामि"[2] मंत्र से प्राप्त करके पूर्वोक्त उपधात विधि से दोनों चरूओं को मिश्रित कर "स्वाहा सोमाय पितृमते"[3] तथा "स्वाहा अग्नये कव्यवाहनाय"[4] इन दोनो मंत्रों से दो आहुतियों को प्रदान करना चाहिए।

पिण्डदान भी अन्वष्टका में किया जाता है। प्राचीनावीति यजमान हांथों में कुशों को लिया हुआ तीनों गड्ढ़ों में "ऊँ ये अपहताः"[5] मंत्र से रेखाकरण करें। इनके दक्षिण भाग में "ऊँ ये रूपाणि"[6] मंत्र से अग्नि को रखे। पितरों का आवाहन "ऊँ एत पितरः"[7] मंत्र द्वारा करें। जल से आपूर्ण तीन पात्रों को गड्ढ़ों के पास रखकर पहले गड्ढ़े में, बायें हांथ में जलापूर्ण पात्र लेकर दाहिने हांथ के पितृतीर्थ (अवसलवि)[8] से पितृनाम के साथ "असाववनेनिक्ष्व"[9] वाक्य से जल प्रदान करें। इसी प्रक्रिया द्वारा द्वितीय गड्ढ़े में पितामह व तृतीय गड्ढ़े में प्रपितामह के नाम से जल प्रदान करना चाहिए। अन्वष्टका की ही शेष दोनो हवियों को एक में मिलाकर तीन भाग कर लेना चाहिए। पहले गड्ढ़े में पिता के नाम के साथ "असावेष ते"[10] मंत्र द्वारा प्रथम भाग की हवि को कुशों पर दाहिने हांथ से प्रदान करना चाहिए। पितामह व प्रपितामह को भी अन्य दो गड्ढ़ों में इसी तरह

---

1. द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 – 3/5/16
2. मा0श्रौ0सू0 – 11/9/1
3. मं0ब्रा0 – 2/3/1
4. मं0ब्रा0 – 2/3/2
5. मं0ब्रा0 – 2/3/3
6. जै0गृ0सू0 – 27/9
7. मं0ब्रा0 – 2/3/5
8. अंगूठे की जड़
9. गो0गृ0सू0 – 4/3/6
10. गो0गृ0सू0 – 4/3/9

से पिण्डदान करना चाहिए। यदि पितरों का नाम भूल गया हो तो "स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः, स्वधा पितृभ्योदिविषद्भ्यः"[1] मंत्र द्वारा तीनों पितरों को तीन पिण्ड प्रदान करना चाहिए। "ऊँ अत्र पितरः"[2] मंत्र से जप करना चाहिए। प्राणायाम करके "ऊँ अमीमदन्त"[3] मंत्र का भी जप करना चाहिए। मुष्ठि में कुश उठाकर पिता का नाम उच्चारित करते हुए "असावेतत्ते"[4] मंत्र द्वारा पहले गड्ढ़े के पिण्ड पर रखे। इसी तरह अन्य दो गड्ढ़ों के पिण्डों पर पितामह व प्रपितामह का नामोच्चारण करते हुए कुशमुष्ठि स्थापित करें। इसी रीति से तिल, तैल व चन्दनादि प्रदान करना चाहिए। "ऊँ नमो वः पितरः"[5] मंत्र से दाहिने हाँथ पर बायें हाँथ को रखकर प्रथम गड्ढे पर पिता को नमस्कार करें। बायें हाँथ को उल्टा करके " नमो वः पितरः घोराय"[6] मंत्र से दूसरे गड्ढ़े पर पितामह को तथा "नमो वः पितरो स्वधायै"[7] मंत्र से तीसरे गड्ढ़े पर दाहिने हाँथ को उल्टा करके प्रपितामह को नमस्कार करें। "ऊँ नमो वः पितरः"[8] मंत्र से हाँथ जोड़कर पुनः जप करें। सपत्नीक यजमान द्वितीय व तृतीय पिण्ड का क्रमशः अवलोकन "ऊँ गृहान वः पितरोदत्त"[9] तथा "ऊँ सदो वः पितरो देष्म"[10] मंत्र द्वारा करें। सूत्र को तीनों पिण्डों का नामोच्चारण पूर्वक "ऊँ असावेतत् ते"[11] मंत्र द्वारा तीनों पिण्डों पर प्रदान करे व जल स्पर्श कर लेवें। तीनों पिण्डों पर क्रमशः जलप्रदान "ऊँ ऊर्जम् बहन्तीः"[12] मंत्र द्वारा करें। यदि यजमान पत्नी पुत्र की कामना करने वाली हो तो द्वितीय

---

1. अ०वे० – 18/4/74
2. मं०ब्रा० – 2/3/6
3. मं०ब्रा० – 2/3/6 तथा जै०गृ०सू० 27/18
4. गो०गृ०सू० – 4/3/13
5. मं०ब्रा० – 2/3/8, जै०गृ०सू० – 28/2
6. मं०ब्रा० – 2/3/9
7. मं०ब्रा० – 2/3/10
8. मं०ब्रा० – 2/3/11
9. मं०ब्रा० – 2/3/12
10. मं०ब्रा० – 2/3/13
11. गो०गृ०सू० – 4/3/24
12. मं०ब्रा० – 2/3/15 – जै०गृ०सू० – 28/5

पिण्ड को "ऊँ आधत्त पितरः"[1] मंत्रोच्चारण के साथ खा लेवे अथवा ब्राह्मणों को खिला देवे। "ऊँ अभून्नो"[2] मंत्र द्वारा अग्नियों पर जल झिड़क कर शान्त कर देवे। स्थालियों को धोकर यथास्थान रख देवे। पहले और तीसरे गड्ढ़े को पिण्डों को जल में विसर्जित कर देना चाहिए। ब्राह्मणों को भोजन व दक्षिणा प्रदान करके इस कार्य का समापन करना चाहिए।

श्राद्ध –

अन्वष्टका के बाद पड़ने वाली अमावस्या को श्राद्ध किया जाता है। अन्वष्टका की स्थालीपाक के अनुसार इसे किया जाता है। आहिताग्नि यजमान दक्षिणाग्नि में चरू को पकावें। इसी अग्नि से अग्नि लेकर अतिप्रणीताग्नि की स्थापना करें। जिस दिन श्राद्ध करना हो उस दिन दोपहर के पश्चात् आचमनादि कार्यों को करके अग्नि को प्रज्ज्वलित कर लेना चाहिए। यजमान यदि अनाहिताग्नि हो तो गृह्याग्नि को ही प्रज्ज्वलित करें। अग्नि के पश्चिम तरफ कुश, यज्ञीय वस्तुओं व पात्रों का आसादन करना चाहिए। चरू को पकाकर अग्नि के दक्षिणी भाग में उतारकर रख देवें और दक्षिण ही तरफ शंकु से एक गड्ढ़ा खोद लेवें। इसी गड्ढ़े के दक्षिण भाग में अग्निस्थापन करना चाहिए। श्राद्ध में इस गड्ढ़े के पश्चिम भाग में न कुश रखे जायेगें न ही अंजन व चन्दन प्रदान करने के कर्म किये जायेगें। हाँथ रखकर नमस्कार करने की क्रिया भी न होगी। "ऊँ स्वाहा सोमाय पितृमते"[3] व "ऊँ स्वाहा अग्नये कव्यवाहनाय"[4] मंत्रों से दो आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। "ऊँ एतद् वः पितरोवास"[5] मंत्र से वस्त्र प्रदान किया जायेगा। इसके बाद सभी कार्य अन्वष्टकानुसार होगें।

शाकाष्टका –

मध्यमाष्टका के पश्चात् ही शाकाष्टका विधान सामवेदीय गृह्यसूत्रों में किया गया है। यह अष्टका शाक द्वारा सम्पन्न होती है, इसलिए इसे शाकाष्टका कहा जाता है। अपूपाष्टका के समान ही इस शाकाष्टका के सभी कार्य होते हैं। इसमें ओदन व शाक के चरू अलग – अलग पकाये जाते है। चरू तैयार हो जाने पर स्रुचि में लेकर "ऊँ अष्टकायै स्वाहा"6 मंत्र द्वारा आहुति

1. *मं0ब्रा0 – 2/3/16*
2. *मं0ब्रा0 – 2/3/17*
3. *मं0ब्रा0 – 2/3/1*
4. *मं0ब्रा0 – 2/3/2*
5. *मं0ब्रा0 – 2/3/14*
6. *जै0गृ0सू0 28/17 तथा गो0गृ0सू0 – 4/4/18*

प्रदान करें। शेष सभी कार्य स्थालीपाक के अनुसार होगें।

काम्य कर्म –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के हेतु विभिन्न होमों का प्रणयन किया गया है, जिसे काम्य कर्म के नाम से जाना जाता है, जिन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है –

ऋणमुक्ति –

यदि उत्तमर्ण का वंश समूल नष्ट हो गया हो तो अधमर्ण उस को कैसे पूर्ण करे, इस समस्या समाधान के लिए सामवेदीय गृह्यसूत्रों में ऐसा प्राविधान है कि अधमर्ण क्षिप्र होमानुसार "ऊँ यत्कुसीदम्"[1] मंत्र से पलाश पत्र के बीच से ऋण की संख्यानुसार घी की आहुति प्रदान करें।

सीता यज्ञ –

अपनी जीविका चलाने के लिए जब सर्वप्रथम हल चलाना हो तो सीतायज्ञ किया जाता है। सीतायज्ञ करने के लिए पुष्यनक्षत्र में स्थालीपाक करके क्षेत्र के पूर्वाद्ध में अग्नि स्थापित करके इन्द्र, मरूत, पर्जन्य, अयाशन्य और भग देवताओं को आहुतियॉ प्रदान करनी चाहिए। खेत में अन्न पक जाने पर काटकर खलिहान में ले जाने के पहले खलयज्ञ, बीज वपन के पूर्व प्रवण, अन्न काटने के पहले प्रसवन और अन्न को घर ले जाने के पूर्व पर्यवण यज्ञ करें। इन यज्ञों में भी इन्द्र मरूत, पर्जन्य, अयाशन्य और भग देवताओं को हवि प्रदान करें।

ब्रह्मवर्चस्व प्राप्ति –

ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति के लिए अरण्य में जाकर 'प्रपद' मंत्रों का जप पूर्वाग्र आस्तीर्ण कुशों पर बैठकर करें। यदि पुत्र या पशु की इच्छा हो तो 'प्रपद' मंत्रों का ही जप उत्तराग्र आस्तीर्ण कुशों पर बैठकर करें। यदि, ब्रह्मवर्चस्व पुत्र व पशु सब की प्राप्ति की कामना हो तो पूर्वाग्र और उत्तराग्र दोनों तरफ कुशों को आस्तीर्ण कर उस पर बैठकर 'प्रपद' मंत्रों का जप करना चाहिए।

पशुकल्याण –

पशुओं के कल्याणार्थ एवं आरोग्य के लिए अग्नि को स्थापित करके क्षिप्रहोम विधानानुसार "ऊँ सहस्त्रबाहु:"[2] मंत्र से यव और धान को मिश्रित करके आहुति प्रदान करनी चाहिए।

---

1. मं०ब्रा० – 2/3/30
2. मं०ब्रा० – 2/4/7

चन्द्रोदय के समय "ऊँ अभिभागो"[1] मंत्र द्वारा यव व चावल की आहुति देने से छोटे पशुओं का कल्याण होता है।

लक्ष्य प्राप्ति -

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अथवा किसी पुरूष को प्रसन्न करने के लिए आम, नारियल, कटहल आदि फलों को "ऊँ कोतोमतम्"[2] मंत्र के जप पूर्वक युगल संख्या में प्रदान करना चाहिए। किसी लक्ष्य के लिए यज्ञ करते समय "ऊँ केश इव"[3] मंत्र से सूर्य का उपस्थान करना चाहिए।

पार्थिवकर्म -

क्षेत्र व गृह के लाभ के लिए किये जाने वाले कर्म को पार्थिव कर्म कहते है। इस कार्य के लिए सर्वप्रथम 15 दिन का उपवास करना चाहिए। उपवास के अन्तिम दिन (जिस दिन पूर्णिमा पड़ रही हो) रात्रि में तालाब में नाभिमात्र जल में प्रवेश करके मुख में चावल भरकर "ऊँ वृक्ष इव", "ऊँ ऋतंसत्ये", "ऊँ अभिभागौ", "ऊँ कोश इव" तथा "ऊँ आकाशस्यैष"[4] आदि पांचों मंत्रों का मन में उच्चारण करते हुए अन्त में "स्वाहा" शब्द के उच्चारण के साथ मुखस्थ चावल से पाँच आहुतियॉ प्रदान करनी चाहिए।

भौतिक वस्तुओं का भोग -

यदि कोई भौतिक वस्तुओं का उपयोग जिस समृद्धियुक्त व्यक्ति के साथ रहकर करना हो तो पौर्णमासी के दिन से तीन दिन पूर्व उपवास करके पौर्णिमा के दिन, दिन के मध्य में उस धनवान का ध्यान कर "ऊँ वृक्षइव"[5] मंत्र द्वारा सूर्य का उपस्थान करना चाहिए।

वाहन प्राप्ति -

घोड़े, हाँथी आदि वाहनों की प्राप्ति के लिए सामवेदीय गृह्यसूत्रों में ऐसा प्राविधान है कि सूर्योदय के समय "ऊँ ऋतं सत्ये"[6] मंत्र द्वारा क्षिप्र – होम विधि से यव और चावल की

---

1. *मं0ब्रा0 – 2/4/11*
2. *मं0ब्रा0 – 2/4/8*
3. *मं0ब्रा0 – 2/4/10*
4. *मं0ब्रा0 – 2/4/9-13*
5. *मं0ब्रा0 – 2/4/9*
6. *मं0ब्रा0 – 2/4/12*

आहुतियॉ प्रदान करनी चाहिए।

वापसी –

यदि कोई व्यक्ति घर से बाहर गया हो तो "ऊँ आकाशस्यैष"[1] मंत्र से सूर्य का उपस्थान करने पर वह व्यक्ति बिना किसी बाधा के घर वापस लौट आयेगा।

निर्विघ्न सम्पूर्ण आयु जीवन – यापन व विभिन्न व्याधियों से मुक्ति –

निर्विघ्न सम्पूर्ण आयु जीवन – यापन करने के लिए अनकाममार मंत्र का जप किया जाता है। प्रातः काल में "ऊँ भूर्भुवस्वरोम्"[2] मंत्र ही अनकाममार मंत्र है। इसी मंत्र के प्रयोग द्वारा कुष्ठ, राजयक्ष्मा, भय आदि से भी विनिर्मुक्ति प्राप्त होती है। "ऊँ मूर्धाऽधि"[3] आदि पांच मंत्रों घृताहुतियॉ प्रदान करने से शरीर के विभिन्न अंगों की पीड़ा नष्ट हो जाती है।

दरिद्रतापनयन –

"ऊँ मूर्धोऽधि"[4] आदि पन्द्रह मन्त्रों सें कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि को घृताहुतियॉ प्रदान करने से दरिद्रता दूर हो जाती है।

यशप्राप्ति –

यश चाहने वाला व्यक्ति "ऊँ यशोऽहम्"[5] "ऊँ पुनर्मायन्तु"[6] "ऊँ रूपरूपम्"[7] "ऊँ यदिदम्"[8] तथा "ऊँ अहर्नो"[9] इन पॉच मंत्रों से सूर्य का उपस्थान करें। मं0ब्रा0 2/5/11 में प्रातःकाल में 'प्रातरह्नस्य' मध्यान्ह काल में 'माध्यन्दिनस्य तेजः' और सायं काल में 'अपरान्ह्नस्य तेजः' पदों का ऊह स्वयमेव कर लेना चाहिए।

---

1. *मं0ब्रा0 – 2/4/13*
2. *मं0ब्रा0 – 2/6/6*
3. *मं0ब्रा0 – 2/5/1–5*
4. *मं0ब्रा0 – 2/5/1–6 (6 मन्त्र), मं0ब्रा0 1/5/6 (एक मन्त्र), सा0सं0उ0 1/1/12 (3 मन्त्र), (तीन व्याहृतियाँ), म0ब्रा0 2/5/7–8 (2 मन्त्र) = (15 मन्त्र)*
5. *मं0ब्रा0 – 2/5/9*
6. *मं0ब्रा0 – 2/5/10*
7. *मं0ब्रा0 – 2/5/11*
8. *मं0ब्रा0 – 2/5/12*
9. *मं0ब्रा0 – 2/5/13*

कल्याण -

प्रातःकाल व सायंकाल में "ऊँ आदित्यनावम्"[1] "ऊँ उद्यन्तम्"[2] तथा "ऊँ प्रतिति ष्ठन्तम्"[3] इन तीनों मंत्रों से सूर्य का उपस्थान करने से मनुष्य का कल्याण सदैव होता है।

धन प्राप्ति -

धन प्राप्ति के लिए शुक्ल पक्ष में पन्द्रह दिन के उपवास के पश्चात् कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि को चावल पकाकर ब्राह्मणों को खिलावे तथा शाम के समय गॉव के पश्चिमी चौराहे पर क्षिप्र होम विधि से चावल के टुकड़ों से "ऊँ भल्लाय स्वाहा"[3] तथा "ऊँ भल्लाय स्वाहा"[4] इन मंत्रों से आहुति प्रदान करें। यही प्रक्रिया तीन कृष्ण पक्ष में करना चाहिए। केवल अन्तर इतना ही होगा कि अगले दो शुक्लपक्षों में पन्द्रह दिन का उपवास न होगा लेकिन ब्रह्मचर्य का पालन होगा।

प्रसन्न करना -

किसी व्यक्ति को प्रसन्न करने के लिए "ऊँ वशंगमौ"[5] मंत्र से धान की एवं "ऊँ शंखश्च"[6] मंत्र से जौ की आहुति को क्षिप्र होम विधि के अनुसार देना चाहिए। अन्यावशिष्ट कार्य होम के नियम के आधार पर करना चाहिए। लक्ष्य प्राप्ति जब तक न हो जाय तब तक इस कार्य को प्रतिदिन करना चाहिए।

दीर्घायु प्राप्ति व बधकार्य -

शुक्ल पक्ष में पन्द्रह दिन का उपवास करके पौर्णमासी की रात्रि को खादिर की लकड़ी को शंकु के आकार का बनाकर "ऊँ अकूती देवीम्"[7] मंत्र से आहुति प्रदान करनी चाहिए। खादिर की लकड़ी को शंक्वाकार के स्थान पर लोहे की कीलों को उपर्युक्त मंत्र द्वारा प्रदान करने से इच्छित व्यक्ति का बध हो जाता है। बध कार्य में उपवास नही किया जाता।

---

1. मं0ब्रा0 – 2/5/14
2. मं0ब्रा0 – 2/5/15
3. मं0ब्रा0 – 2/5/17
4. मं0ब्रा0 – 2/5/18
5. मं0ब्रा0 – 2/6/7
6. मं0ब्रा0 – 2/6/8
7. मं0ब्रा0 – 2/6/9

ग्राम प्राप्ति, वृत्ति अविच्छेद –

पौर्णमासी के दिन एक दिन का उपवास करके रात्रि के समय चौराहे पर जाकर बेदि बनाकर गोबर से लीपकर उसमें अग्निस्थापित करके, अग्नि के निर्धूम होने पर "ऊँ आकूतीं देवीम्"[1] मंत्र का स्मरण करके मुख में घी लेकर स्थापित अग्नि में आहुति प्रदान करना चाहिए। ऐसा करने से ग्राम की प्राप्ति हो जाती है।

तीन दिन तक उपवास करके प्रत्येक दिन सायं व प्रातः काल में मुख में गीला गोभय लेकर उपर्युक्त मंत्र से आहुति प्रदान करने से व्यक्ति के वृत्ति का कभी भी विच्छेद नही होता।

धन व वस्त्र प्राप्ति –

तीन दिन के उपवास पूर्वक अग्निस्थापित कर "ऊँ इदमहम्"[2] मंत्र से घृताहुति प्रदान करने से धन की प्राप्ति व इस मंत्र से तन्तुओं की आहुति प्रदान करने से वस्त्र सुगमता पूर्वक मिल जाते है। गो – लोगों की आहुति देने से गौयें सुगमता से प्राप्त हो जाती है।

यश व सहायता प्राप्ति –

"ऊँ पूर्णहोमम्"[3] तथा "ऊँ इन्द्रमवदात्"[4] मंत्र द्वारा घृत की आहुतियॉ प्रतिपदा यज्ञ करने के पश्चात् देने से क्रमशः यश व सहायता की प्राप्ति होती है।

स्वाधिपत्य प्राप्ति –

स्वाधिपत्य की कामना करने वाला पुरूष आठ दिन के उपवास पूर्वक औदुम्बर वृक्ष की बनी स्रुवा को लेकर गॉव के पूर्वी या उत्तरी चौराहे पर होम की प्रकृयानुसार अग्नि को स्थापित करके उसे परिष्कृत कर "ऊँ अन्नं वा"[5] तथा "ऊँ श्रीर्वा"[6] इन दो मंत्रों से घृताहुतियों को प्रदान कर "ऊँ अन्नस्य"[7] मंत्र से गृह्ययाग्नि में आहुति प्रदान करे। ऐसा करने करने से स्वाधिपत्य की प्राप्ति होती है।

---

1. *मं0ब्रा0 – 2/6/9*
2. *मं0ब्रा0 – 2/6/10*
3. *मं0ब्रा0 – 2/6/11*
4. *मं0ब्रा0 – 2/6/12*
5. *मं0ब्रा0 – 2/6/13*
6. *मं0ब्रा0 – 2/6/14*
7. *मं0ब्रा0 – 2/6/15*

पशु प्राप्ति व सन्तापविनिर्मुक्ति –

"ऊँ अन्नस्य"[1] मंत्र से ही गोशाले में घृताहुति प्रदान करने से पशुओं की प्राप्ति होती है। इसी मंत्र से गोशाले में ही लौहचूर्ण की आहुति प्रदान करने से गौओं के सन्ताप भी दूर हो जाते हैं।

वृत्ति रक्षण –

अपनी वृत्ति को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के लिए "ऊँ क्षुधे स्वाहा"[2] तथा "ऊँ क्षुत्पिपासाभ्यां स्वाहा"[3] मंत्रों द्वारा चावल के टुकड़ों की आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए।

विष नाश –

यदि किसी को विषधर ने डॅस लिया हो तो डॅसे हुए व्यक्ति को जल से स्नान कराकर "ऊँ मा भैषीः"[4] मंत्र का जप करने से विष विनष्ट हो जाता है।

स्नातक रक्षण –

रात्रि में सोने के पहले स्नातक "ऊँ तुरगोपाय"[5] मंत्र पाठ के साथ लाठी अपने पास रखकर सोवें, इससे स्नातकों की रक्षा होती है।

क्रिमि चिकित्सा –

क्रिमियुक्त स्थान को धोकर साफकर "ऊँ हतस्ते"[6] "ऊँ भरद्वाजस्य"[7] "ऊँ हतः क्रिमीणाम्"[8] तथा "ऊँ क्रिमिमिन्द्रस्य"[9] इन चारों मंत्रों का जप करना चाहिए। इससे क्रिमियाँ निकल जाती हैं।

---

1. मं०ब्रा० – 2/6/15
2. मं०ब्रा० – 2/6/16
3. मं०ब्रा० – 2/6/17
4. मं०ब्रा० – 2/6/18
5. मं०ब्रा० – 2/6/19
6. मं०ब्रा० – 2/7/1
7. मं०ब्रा० – 2/7/2
8. मं०ब्रा० – 2/7/3
9. मं०ब्रा० – 2/7/4

अर्हण कार्य -

हमारी धार्मिक परम्परा मे कुछ लोगों को पूज्य माना जाता है जैसे – आचार्य, स्नातक, राजा, विवाह के लिए आया हुआ वर व अतिथि। इनके आने पर विष्टरादि से इनकी पूजा की जाती है। इसी कार्य को अर्हण कार्य कहा जाता हैं। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अर्हण कार्य इस प्रकार बतलाया गया है –

पूजा करने वाला व्यक्ति पूजायोग्य सामग्रियों को लेकर पूजायोग्य व्यक्ति के पास खड़े होकर उस स्थान के उत्तर भाग में गौ बधी होने पर "ऊँ इदमहम्"[1] मंत्र को जपे। पूजा करने वाला पूजायोग्य व्यक्ति को विष्टर (कुशासन), पाद्य (पादप्रक्षालनार्थ जल), अर्घ्य (अर्घ्यजल), आचमनी (आचमनी के लिए जल), मधुपर्क (मधु व दधि का मिश्रण) प्रदान करे। पूजायोग्य व्यक्ति विष्टर को "ऊँ या ओषधीः"[2] मंत्र से ग्रहण करे। पाद्य को "ऊँ यतो देवीः"[3] मंत्र से अवलोकित कर "ऊँ सव्यपादकम्"[4] व "ऊँ दक्षिणपादम्"[5] मंत्रों से क्रमशः बायें व दायें पैरो को धोये तथा "ऊँ पूर्वमन्यम्"[6] मंत्र से दोनो पैरों को प्रक्षालित करें। आर्घ्य जल को "ऊँ अन्नस्य"[7] मंत्र से ग्रहण करे। "ऊँ यशोऽसि"[8] मंत्र से आचमनी को एक बार व दो बार बिना मंत्र के ग्रहण करे। मधुपर्क को "ऊँ यशसो"[9] व "ऊँ यशसोभक्षोऽसि"[10] मंत्रों से ग्रहण कर तीन बार भक्षण करे, चौथे बार सम्पूर्ण मधुपर्क

---

1. मं०ब्रा० – 2/8/2
2. मं०ब्रा० – 2/8/3
3. मं०ब्रा० – 2/8/5
4. मं०ब्रा० – 2/8/8
5. मं०ब्रा० – 2/8/8
6. मं०ब्रा० – 2/8/8
7. मं०ब्रा० – 2/8/9
8. मं०ब्रा० – 2/8/10
9. मं०ब्रा० – 2/8/11
10. मं०ब्रा० – 2/8/12

को पी जावें। आचमन करके नवीन वस्त्र धारण करने के बाद नावित "ऊँ गौर्गौगौः"[1] इस प्रकार उच्चारण करे। पूजा करने वाला व्यक्ति "ऊँ मुंचगाम्"[2] मंत्र द्वारा गाय को छोड़ने की आज्ञा देवे। "ऊँ मातारूद्राणाम्"[3] मंत्र से उस गौ का निरीक्षण करें।

ग्रह – शान्ति –

सामवेदीय चारो गृह्यसूत्रों में ग्रह शान्ति सम्बन्धित वर्णन केवल जैमिन गृह्यसूत्र में ही है। ग्रह कुपित होकर मनुष्य का अनिष्ट कर देते हैं, इसलिए उनका आतिथ्य व बलिकर्म का प्राविधान है। इसी प्रकरण में विभिन्न ग्रहों के विभिन्न रंगों का वर्णन किया गया है, जैसे सूर्य का रक्त वर्ण। विभिन्न ग्रहों को विभिन्न स्थानों पर आहुतियाँ प्रदान करने का भी विधान है, जैसे आदित्य के लिए अग्नि के मध्य में आहुति प्रदान करना चाहिए। विभिन्न ग्रहों की विभिन्न आकृतियों का भी विधान किया गया है, जैसे – सोम का आकार बॉण के आकार का बतलाया गया है। किन – किन ग्रहों के लिए किन – किन लकड़ियों को प्रदान करना चाहिए, इसका वर्णन भी जैमिनि गृह्यसूत्र में है। शुक्र को दधि आदि विभिन्न प्रकार की आहुतियों को प्रदान करना का विधान है।

अन्त्येष्टि –

जैमिनि गृह्यसूत्र में ही अन्त्येष्टि का प्राविधान है। आहिताग्नि यजमान की मृत्यु हो जाने पर 360 पलाश के पत्तों से अन्त्येष्टि करने का प्राविधान किया गया है। ये 360पत्ते शरीर का अंगों के प्रतीक माने जाते हैं, यथा भुजा सौ, नाक दस, अंगुली दस छाती तीस, पैर तीस, आदि। ऐसा भी संकेत किया गया है कि ये तीन सौ साठ पत्ते ही शरीर के 360 अस्थियों के प्रतीक हैं।

वास्तुपति यज्ञ –

गृह निर्माण व इस प्रसंग में विभिन्न अभ्यर्चनायें वास्तुपति यज्ञ कहलाती हैं। शुभ समय, सुन्दर भूमि तथा उचिम समय पर निर्मित भवन ही मनुष्य के लिए कल्याणकारी होते हैं, इस सन्दर्भ में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में इनके प्राविधान इस प्रकार हैं –

---

1. *गो०गृ०सू० – 4/10/18*
2. *मं०ब्रा०. – 2/8/13*
3. *मं०ब्रा० – 2/8/15*

भूमि –

भूमि चयन करते समय निम्न तथ्यों का ध्यान देना चाहिए –

1. भूमि समतल हो।
2. भूमि तृणयुक्त हो व सरोवर तथा नदी आदि के द्वारा मार्ग अवरूद्ध न हो।
3. काँटों से रहित, बिना दूध वाले व मधुर वृक्षयुक्त भूमि पर गृह निर्मित करना चाहिए।
4. सफेद भूमि ब्राह्मणों के लिए, लाल व काली भूमि क्षत्रिय व वैश्य के लिए उत्तम मानी जाती है।
5. जिस भूमि पर हमेशा जल भरा रहता हो तथा ऊसर भूमि पर कभी भी घर नही बनाना चाहिए।
6. बल की कामना वाले व्यक्ति बड़े – बड़े तृणों से युक्त ब्रह्मवर्चस् की कामना करने वाले कुशयुक्त, पशुओं की कामना करने वाले मृदुतृण युक्त भूमि पर गृह निर्मित करें।
7. आस पास प्राकृतिक सरोवर हो तो अत्युक्तम होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से युक्त भूमि के अतिरिक्त निम्न बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है –

1. घर का मुख पूर्व दिशा में होने पर यश तथा बल की प्राप्ति होती है। उत्तर तरफ मुख होने पर पुत्र व पशु प्राप्ति होती है। दक्षिण तरफ मुख होने पर सभी इन्द्रियों की पूर्ति होती है।
2. आँगन इस तरह से निर्मित होने चाहिए कि उसमें किसी कार्य के होने पर लोग बाहर से देख न सकें।
3. घर के पूरब तरफ पीपल वृक्ष न होना चाहिए इससे अग्नि का भय बना रहता है। दक्षिण दिशा में पाकड़ का वृक्ष नही होना चाहिए, इससे अल्पायु का खतरा होता है। पश्चिम दिशा में वट वृक्ष नही होने चाहिए, इससे शस्त्र प्रहार का भय होता है। उत्तर दिशा में गूलर का वृक्ष नही होने चाहिए इससे अक्षि रोग का भय होता है। यदि ये वृक्ष हो तो उन वृक्षों के देवताओं का यज्ञ करके उनको काट देना चाहिए। यहाँ स्मरणीय तथ्य यह है कि पीपल का देवता सूर्य होता है, पाकड़ का यक्ष, वट का वरूण, गूलर का प्रजापति देवता होता है।

गृह यज्ञ –

घर के पूर्ण रूपेण बनकर तैयार हो जाने पर घर के मध्य भाग में वेदि निर्मित करके परिसमूहनादि के द्वारा उसे परिष्कृत करके अग्नि स्थापित कर कृष्णा गौ या सफेद बकरे द्वारा यज्ञ करना चाहिए। इनके आभाव में खीर या पायस चरू द्वारा ही यज्ञ किया जा सकता है।

यज्ञ की प्रारम्भिक क्रियाओं को पूर्ण करके मांसाष्टकाविधि के अनुसार वपाहोम करना चाहिए। यदि खीर या पायस चरू हो तो प्रथमाष्टकानुसार ही यज्ञ करना चाहिए। चरू की आहुतियाँ 'वास्तोपति' के नाम से दी जाती है। यदि मांस की आहुति हो तो पशु के चौदह प्रधान अंगो की आहुति देना चाहिए। मांस, घी व पायस को मिश्रित करके पूर्वाद्ध, उत्तरार्द्ध व मध्य भाग से एक एक बार यदि पंच प्रवरीय गोत्र वाले हो तो दो – दो बार स्रुचि में लेकर पुनः घी छोड़कर वास्तोपति के नाम से आहुति प्रदान करनी चाहिए। यदि मांस उपलब्ध न हो तो खीर के चौदह अवदान ही देने चाहिए। चौदह अवदानों को घी से सिंचित करके कांसे की स्थाली में रखकर पुनः घृत सिंचित कर देना चाहिए। फिर सभी को छः अवदानों में विभक्त करके घृत से सिंचित करके "वास्तोस्पते"[1] मंत्र से प्रथम आहुति देना चाहिए। वामदेव्य ऋचाओं – "ऊँ कयानाश्चित्र" "ऊँ कस्त्वा" तथा "ऊँ अभीषूणः"[2] मंत्रों से तीन आहुतिंयों को प्रदान करना चाहिए। इसके बाद तीनों व्याहृतियों से तीन आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। पुनः प्रजापति के नाम से एक आहुति प्रदान करना चाहिए। स्थालीपाक की विधि के अनुसार स्विष्टकृत आहुतियों को प्रदान करके वैश्वदेव बलि कर्मानुसार पूर्व दिशा में अग्नि, अग्निकोण में वायु दक्षिण में यम, नैऋत्य में पितर, पश्चिम में वरूण, वायाव्यकोण में महाराज, उत्तर में सोम, ईशानकोण में महेन्द्र, नीचे वासुकी तथा उत्तर में ब्राह्मण के लिए दस बलियॉ प्रदान करना चाहिए। वामदेव्य गान पूर्वक ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर इस कार्य को समाप्त करना चाहिए।

---

1. मं0ब्रा0 – 2/6/1
2. सा0सं0उ0 1/1/12

द्वितीय अध्याय

सामवेदीय गृहयसूत्रों के विविध प्रयोजन या लक्ष्य व समन्वय

"सामवेदीय गृह्यसूत्रों के विविध प्रयोजन या लक्ष्य व समन्वय"

सामवेदीय गृह्यसूत्रों के विविध प्रयोजनों व उनकी समीक्षाओं में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। –'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपिन प्रवर्तते' अतः सर्वप्रथम वे कारण जिनसे सामवेदीय गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषयों का प्रादुर्भाव हुआ। इतना समयान्तराल हो गया कि वे प्रयोजन काल के गाल में समाहित हो गये। इसलिए वर्तमान काल में सुनियोजित कल्पना ही इसका आधार हो सकती है। आधुनिक मानव का मस्तिष्क प्राचीन काल की सभी बातों को विश्वास की दृष्टि से देखता ही नहीं। गृह्यकर्मों में वर्णित कठोर अनुशासन को हृदयंगम करने में सहजभाव रह ही नही गया है। अतः सामवेदीय गृह्यसूत्रों के विविध प्रयोजनों को हृदयंगम करने के लिए भूत के प्रति आदर भावना तथा मनुष्य के स्वभाव के प्रति सहानुभूति की भावना से भावित होते हुए इन गृह्यसूत्रों का अध्ययन करना चाहिए।

जब हम सामवेदीय गृह्यसूत्रों के प्रयोजनों का अवलोकन करते हैं तो मुख्यरुप से दो प्रयोजन ही दृष्टिगत होते है सहज विश्वास और कर्मकाण्डीय भावना । इन पर अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार दे सकते हैं –

अकल्याणकारी प्रभावों का दूरीकरण –

विश्वास है कि सामवेदीय गृह्यसूत्र हमारे ऊपर पड़ने वाले अकल्याणकारी प्रभावों का निराकरण करते हैं। इन सामवेदीय गृह्यसूत्रों की सर्वाधिक लोकप्रियता इसी भावना से भावित है। हमारी यह अतिप्राचीन मान्यता है कि मनुष्य अपने चतुर्दिक मनुष्येतर प्रभावो से परिव्याप्त है, वे हैं भूत, पिशाच, ग्रह एवं अन्य अमंगल आदि, अतः वे किसी भी व्यक्ति के महत्वपूर्ण अवसरों पर अकल्याण कर सकतें है, इसलिए भिन्न – भिन्न अवसरों पर इन दिव्य शक्तियों को प्रसन्न रखने का भी विधान सामवेदीय गृह्यसूत्रों में है। विभिन्न अवसरों पर दिव्य शक्तियों की स्तुति, पूजन, बलिप्रदान आदि कार्य उन्हें तृप्त करने के लिए किया जाता था, जिससे वे बिना अहित किये लौट जाँय। गर्भाधान, पुंसवन, शिशुओं के जन्मादि के समय विभिन्न देवताओं की स्तुतियों का प्राविधान इन्ही तथ्यों के द्योतक हैं। मुण्डन के अवसर पर कटे हुए बालों को गोबर में गाड़कर छिपाने का प्राविधान है कि कोई भी व्यक्ति भूत या पिशाचादि का उस मुण्डन कराये हुए व्यक्ति पर प्रयोग

न कर सके। जातकर्म के समय विविध अकल्याणकारी ताकतों को दूर रहने को कहना, चतुर्थी क के समय नव विवाहिता के कल्याण के लिए आह्वान, इन्हीं भावनाओं से भावित कार्य हैं।

गृह्यसूत्रों में यह उल्लिखित है कि स्त्री के गर्भ का भक्षण करने के लिए कुछ राक्षसियाँ आती हैं जो उसे अनेक प्रकार से पीड़ा और कष्ट पहुँचाती हैं, इसके निवारणार्थ पति को 'श्री' का आह्वान करना चाहिए। पूजन विधि में वह प्रतीक के रूप में तीन गुच्छों और सफेद चिह्न वाले शाही के तीन काटें भी रखता था, जिससे दुष्ट शक्तियाँ गर्भिणी से दूर रह सकें।

गर्भिणी स्त्री के सुख और सान्तवना के निमित्त यह संस्कार सम्पादित किया जाता था ताकि वह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य लाभ कर सके।[1]

कल्याणकारी प्रभावों का सामीप्य –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों में कल्याणकारी प्रभावों के सामीप्य भी दृष्टिगोचर होते हैं। देवी देवताओं की स्तुतियों व उनसे की गईं याचनाओं में ये भाव स्पष्ट हैं। सामवेदीय गृह्यसूत्रों की ऐसी मान्यता है कि जीवन का हर समय किसी न किसी देवता से व्याप्त रहता है। अतः विभिन्न संस्कारों के अवसर पर उन्हीं देवी देवताओं को उद्बोधित किया जाता था। हमारे पूर्वजों की यह मान्यता थी कि शुभकारी वस्तुओं के स्पर्श मंगलकारी हो सकतें है, इसीलिए सीमन्तोन्नयन के अवसर पर उदुम्बर वृक्ष की शाखा का गर्भिणी से स्पर्श कराने का विधान है। विवाह के अवसर पर शिलारोहण दृढ़ता प्राप्ति का प्रतीक है। नवजात शिशु पर तीन फूक लगाना, नवजात के श्वास को दृढ़ करने का प्रतीक है।

संस्कारों को सम्पन्न करते समय व्यक्ति विभिन्न सांसारिक वस्तुओं की कामना करता है। दीर्घजीवन, सुखसमृद्धि, सम्पत्तिक शक्ति, बुद्धि, वैभव, सन्तान आदि की प्राप्ति की इच्छा देवताओं से करता है, तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए आराधन पूजन में संलग्न होता है।[2]

भौतिक सुख समृद्धि –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषयों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है

---

1. *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – डॉ0 जयशंकर मिश्र, पृ0सं0 291*
2. *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – डॉ0 जयशंकर मिश्र, पृ0सं0 288*

कि उनका उद्देश्य भौतिक सुख समृद्धि की अभिवृद्धि है। दीर्घजीवन सन्तान, पशु व धन धान्य की प्राप्ति ही उनका उद्देश्य था। गृह्यकर्मों में प्रयुक्त होने वाले मंन्त्रों में विविध देवताओं से विविध प्रकार की इच्छायें की जाती थीं। उनके माध्यम से देवता यजमान की इच्छाओं को जान लेते थे, अतः वे देवता उनकी प्रसन्न होने पर करते थे।

सामवेदीय गृह्यसूत्र व आत्माभिव्यक्ति -

व्यक्ति के जीवन में या तो सुख होता है या दुःख, सामवेदीय गृह्यसूत्रों में सुख या दुःख दोनो की अभिव्यक्ति के लिए संस्कारों को माध्यम बनाया गया है। जीवन की विविध घटनाओं के कारण उत्पन्न हर्ष, आनन्द एवं दुख की अभिव्यक्ति के लिए संस्कारों के अनुष्ठान किए जाते थे। विवाह एवं पुत्र जन्म पर संस्कार के माध्यम से आनन्द उठाते थे तो मृत्यु के समय भी संस्कारों के माध्यम से शोकाभिव्यक्ति करते थे।

सांस्कृतिक प्रयोजन -

सामवेदीय गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषयों का सांस्कृतिक प्रयोजन भी है। महान लेखको और विविध निर्माताओं ने उनमें उच्चतर धर्म और पवित्रता का समावेश करने का प्रयास किया। गर्भाधान के अवसर पर किए जाने वाले होम, जातकर्म, चूडाकरण व उपनयनादि संस्कारों के अनुष्ठान से द्विजों के गर्भ तथा बीज सम्बन्धित दोष समाप्त हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में मनु का कहना है कि द्विजों को गर्भाधानादि शारीरिक संस्कार वैदिक कर्मों के साथ करना चाहिए जो इहलोक और परलोक दोनो को पवित्र करते हैं।[1] ऐसी ही मान्यता याज्ञवल्क्य की भी है।[2] ऐसी लोक सम्मत अवधारणा थी कि बीज और गर्भवास अपवित्र और अशुद्ध होते हैं, और जातकर्मादि संस्कारों के द्वारा ही इस अपवित्रता से छुटकारा पाया जा सकता है। शरीर आत्मा के निवास का माध्यम है, अतः इसे उपयुक्त माध्यम बनाने के लिए सम्पूर्ण शरीर का संस्कार आवश्यक समझा जाता था। मनु के अनुसार स्वाध्याय, व्रत, होम, देवर्षि तर्पण, यज्ञ, सन्तानोत्पत्ति, इज्या व पंचमहायज्ञों के अनुष्ठान से यह शरीर ब्राह्मी जो जाता है अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है।[3]

---

1. *मनुस्मृति - 2/26*
2. *याज्ञवल्क्य स्मृति - 1/16*
3. *मनुस्मृति - 2/28*

समाज के विशिष्टाधिकार भी सामवेदीय गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषयों से सम्बद्ध है। उपनयन संस्कार को समाज और उसके धार्मिक साहित्य में प्रवेश होने के लिए प्रवेश द्वार था। समाज के त्रिवर्ग के लिए ही यह अधिकार सुरक्षित था, शूद्रों को उपनयन का कोई अधिकार नहीं था। इसी प्रकार समावर्तन संस्कार विद्याध्ययन की समाप्ति व गृहस्थ जीवन में प्रवेश का सूचक था। वैदिक मंत्रों के माध्यम से उपनयन और विवाह संस्कार से किसी भी व्यक्ति को सभी प्रकार के यज्ञों का विधान करने तथा समाज में अपनी उन्नति का अधिकार स्वयमेव प्राप्त हो जाता था।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषयों का अन्य प्रयोजन इहलोक से ऊपर उठकर स्वर्गलोक अथवा मोक्ष की प्राप्ति भी था। जब लम्बे समय तक चलने वाले यज्ञों का प्रचलन नही था तो केवल देवताओं की आराधना और छोटे–छोटे सामान्य यज्ञ ही स्वर्ग प्राप्ति के साधन माने जाते थे। संस्कारों को भी जो पहले गृह्यकृत्य थे, अत्यधिक महत्त्व प्राप्त होने लगा। हारीत संस्कारों के प्रयोजन का वर्णन इस प्रकार करते हैं – "ब्राह्म संस्कारो से संस्कृत व्यक्ति ऋषियों की स्थिति को प्राप्त कर उसके समान हो जाता है और उनके निकट निवास करता है तथा दैव संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति देवों की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।[1] शंखलिखित लिखते है कि – संस्कारो से संस्कृत तथा आठ आत्मगुणों से युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोक में पहुँचकर ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह फिर कभी च्युत नही होता।[2]

नैतिक सद्गुण अभिवृद्धि –

व्यक्ति के लिए संस्कार लक्ष्य नही होते बल्कि उन संस्कारो से अनुस्यूत होकर नैतिक सद्गुण परिपक्व होते हैं। जीवन के हर पल के लिए संस्कारों से ही नियम नियमित होते हैं। ब्रह्मचारी के नियम स्नातक के नियम, गर्भिणी स्त्री के लिए नियम आदि तथ्य सामवेदीय गृह्यसूत्रों में कथित हैं। ये नियम व्यक्ति के नैतिक गुणों की वृद्धि में सहायक होते हैं। महर्षि गौतम ने चालीस संस्कारों की गणना के पश्चात् दया, क्षमा, अनसूया, शौच, शम, उचित व्यवहार, निरीहता तथा निर्लोभ इन अष्ट आत्मिक गुणों का उल्लेख करते हैं।[3] इसी प्रसंग में वे आगे कहते हैं कि

---

1. *हि०सं० – पृ० 35*
2. *वही*
3. *गौतम धर्म सूत्र – 8/24*

जिस व्यक्ति ने चालीस संस्कारों का अनुष्ठान तो किया है किन्तु जिस व्यक्ति ने केवल कतिपय संस्कारो का ही अनुष्ठान किया है और जो आत्मा के आठ गुणों से सुशोभित है वह ब्रह्मलोक में ब्रह्म का सानिध्य प्राप्त कर लेता है।[1]

व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण व विकास में सहायक –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषयों का एक मुख्य प्रयोजन सांस्कृतिक प्रयोजनों की उत्पत्ति है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण व विकास में सहायक हैं। जिस प्रकार चित्रकला में दक्षता वही प्राप्त कर सकता जो वर्ण ज्ञान रखता हो ठीक उसी प्रकार चरित्र निर्माण में संस्कारोंकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

संस्कार जीवन के हर क्षेत्र में अपना प्रभाव डालते है, केवल, जीवन काल में ही नही अपितु मृत्यु के पश्चात् भी अपने सिद्धान्तों के माध्यम से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। संस्कार तो जीवन में मार्गदर्शन का कार्य करते ही है, साथ ही साथ आयु वृद्धि व जीवन को एक निश्चित दिशा देने का भी कार्य करते हैं। जीवन को एक निश्चित दिशा मिलने के पश्चात् ही उनमें अनुशासन व सोद्देश्य धारा प्रवाह होता है। इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रसंग में गर्भाधान संस्कार में कहा गया है कि वह एक निश्चित समय में किया जाय पति पत्नी दोनों शारीरिक व मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ्य हों तथा एक दूसरे को पूर्ण रूप से जान चुके हों, उनमें सन्तान प्राप्ति की उत्कृष्ट इच्छा हो। वैदिक मंत्रों के उच्चारण से वातावरण शुद्ध कर लिया गया हो। बच्चे के जन्म लेने पर विविध आशीर्वादात्मक कार्य किये जाते थे। चूड़ाकरण के पश्चात् शिशु के विकास का उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो जाता था। विद्यालय में पहुँचने के पूर्व ही उसे विविध उत्तरदायित्वों से परिचित कराया जाता था। शिक्षा सम्बन्धी उपनयनादि संस्कार सांस्कृतिक भठ्ठी का कार्य करते थे। जिसमें बालक की आकांक्षाओं, अभिलाषाओं इच्छाओं को पिघलाकर अभीष्ट ढाँचे में डाल दिया जाता था और अनुशासित लेकिन प्रगतिशील एवं परिष्कृत जीवन व्यतीत करने के लिए उसे तैयार कर दिया जाता था। विवाह में भावी जीवन को व्यतीत करने के लिए विविध धर्मोपदेश दिये जाते हैं। निश्चित ही संस्कारों में संस्कारो की विधियों का अवलोकन करने से उनके मूल में निहित व्यक्तित्व के निर्माण व विकास की भावना पूर्णरूपेण भावित मिलती है।

---

1. हि०सं० – पृ०सं० 36

आध्यात्मिक भावनाएं –

सामवेदीय गृह्यसूत्र आध्यात्मिक भावनाओं से ओत प्रोत हैं। व्यक्ति के जीवन में दो धारणायें परिलक्षित होती हैं – भौतिकवादी दृष्टिकोण और आध्यात्मिक दृष्टिकोण। भौतिकता से अध्यात्मिकता तक पहुँचने के लिए गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषय सीढ़ी का कार्य करते हैं। अध्यात्म हिन्दुओं का एक अनुपम 'वैशिष्ट्य है। यह दृष्टिकोण प्रत्येक काल में अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। गृह्यसूत्रों में जिन संस्कारों का उल्लेख है उन संस्कारों में आध्यात्मिकता को वही सही रूप में समझ सकता है जो स्वयं संस्कार युक्त हो। संस्कार्य को ऐसा अनुभव होता है कि जैसे कोई अदृश्य वस्तु संस्कार्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को पवित्र कर रहा है। वे पंचतत्त्व वाली शरीर को सारहीन समझने लगते हैं। उसे यह भी अनुभव होता है कि सम्पूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कारमय है और सम्पूर्ण शारीरिक क्रियायें आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हैं। गृह्यसूत्रों का लक्ष्य है कि सामान्य जीवन जो समय – समय पर होने वाले अनुष्ठानों के बिना पूर्णतया भौतिक बन जाता है इन के प्रयोग से आध्यात्मिकता पूर्णतया समाविष्ट हो जाती है।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों का प्रधान आधार धर्म है और धर्म आत्मा का जीवन होता है। इसी कारण भारतीय समाज अध्यात्मवाद से अनुप्राणित है। गृह्यसूत्रों के सभी विषय धर्म से समन्वित हैं।

गृह्यकर्मों में की जाने वाली क्रियायें विभिन्न देवी देवताओं के अनुष्ठान से सम्बद्ध हैं तथा उनका दार्शनिक पक्ष आध्यात्मिक भावनाओं से भावित है। अतः इनसे व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास होता है।

जैवकीय योगदान –

संस्कारों का योगदान मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के अतिरिक्त लौकिक जीवन के भी साथ रहा है। मनुष्य की जैवकीय समस्याओं का भी समाधान संस्कारों से होता है। जिस समय प्रजनन विद्या और स्वास्थ्य का विकास नही हुआ था उस समय संस्कार ही व्यक्ति के जैवकीय ज्ञान के आधार थे। गर्भाधान, पुसंवन आदि ऐसे ही संस्कार थे, जिनसे गर्भिणी स्त्री को शिक्षा मिलती थी और वह अपनी आवश्यकताओं की तदनुरूप पूर्ति करती थी। ब्रह्मचर्य आश्रम से व्यक्ति ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करता है तथा अपने जीवन को पवित्र और शुद्ध बनाता है।[1]

1. *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – पृ0 305*

जीवनोपयोगी अन्य शिक्षायें –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषय मनुष्य जीवन में अनेक अन्य उपयोगी शिक्षायें प्रदान करते हैं जिनसे वे अपनी व्यक्तिगत उन्नति करते हैं। ये व्यक्ति को अनुशासित जीवन जीने के शिक्षा प्रदान करते हैं। व्यक्ति का लौकिक ज्ञान उन्नत होता है। धर्म के साथ–साथ उसे समाज के भी ज्ञान प्राप्त होते है। व्यक्ति को समाज का सदस्य परिवार के माध्यम से सामाजिक उन्नति की अभिवृद्धि करना जीवन को गतिशील बनाना ही इनका लक्ष्य था।

इन सभी विविध प्रयोजनों से समाहित सामवेदीय गृह्यसूत्र हमारे जीवन में समन्वय स्थापन की भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। इनमें विद्यमान निम्न तथ्य इनको एक समन्वय साधक गृह्यसूत्रों की कोटि में लाकर खड़ा करते हैं।

सहनशीलता और सद्भावनाओं का समन्वय –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में सहनशीलतायें व सद्भावनायें कूट – कूट कर भरी पड़ी हैं। महानाम्निक व्रत में आचार्य के प्रति विरोधी भावनाओं से रहित रहना, स्नातक के नियमों का वर्णन करते समय आप्तपुरूषों के व्यवहारों का अनुसरण करना। महानाम्निक व्रत में ही कहा गया है कि यदि कोई नियम दूसरी व्याख्या के नियमों के विपरीत हो तो उसका पालन नहीं करना चाहिए यह सद्भावना नही है तो क्या है?

इस प्रकार सामवेदीय गृह्यसूत्र सदाशयता, सद्भावना व सहनशीलता से आपूर्ण हैं। यही विशेषता अति प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति को प्रेरणाप्रदान करती रही है। प्राचीन काल में जितने भी दूसरे धर्मों के लोग इस भारत भूमि पर आये उन सभी को हमारे प्राचीन ग्रन्थों ने इन भावनाओं के समन्वय से परिपूर्ण कर दिया।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों का अन्य गृह्यसूत्रों से समन्वयवादी धर्मिता –

सामवेदीय गृह्यसूत्र का यह वैशिष्ट्य है कि वे अन्य गृह्यसूत्रों के साथ समन्वय स्थापित करते हैं। समान धर्म वाली एवं असमान धर्मवाली वस्तुओं के साथ समायोजन करने की भावना ही समन्वय के मूल में होती है। व्यक्ति के पुरूषार्थ की भावना समन्वय से युक्त होती है। सभी गृह्यसूत्रों का यह लक्ष्य होता है कि व्यक्ति के भौतिक जीवन को समृद्ध बनाते हुए उसे अध्यात्म के प्रति उन्मुख करें व दर्शपौर्णमासादि यज्ञों के द्वारा उन्हें मुक्ति पथ की ओर प्रवृत्त करें।

इन भावनाओं से सभी गृह्यसूत्र भावित हैं। इसलिए सभी गृह्यसूत्रों का आपस में समन्वय है। मनुष्य का विकास इह लौकिक व पारलौकिक दोनों स्थितियों के समन्वय से ही सम्भव है। अनुकूल व प्रतिकूल तथा विरोधी व सहयोगी प्रवृत्तियों से समन्वय स्थापित करके चलना भारतीय संस्कृति का मूल आधार रहा है।[1]

पति व पत्नी में समन्वय –

हमारी सम्पूर्ण हिन्दू विचार धारा स्त्री व पुरूष में भेद – भाव नही रखती। यहाँ यह भावना है कि जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते है। और जिस कुल में इनकी पूजा नही होती उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं। इसलिए अपनी सर्वतोभावेन उन्नति चाहने वाला व्यक्ति स्त्रियों का सर्वदा आदर करता था।

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।"[2]

इसी भावना से भावित होकर सामवेदीय गृह्यसूत्रों में ऐसा विधान बनाया गया है कि गृहस्थ कोई भी धार्मिक कार्य बिना पत्नी के साथ लिए नही कर सकता। सीमन्तोन्नयन संस्कार में गर्भिणी के केशों को सँवारकर उसे प्रसन्न रखते हुए उसका पति के साथ समन्वय स्थापित किया गया है।

भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान भी नैतिक दृष्टि से विशेष महत्व का है। वास्तव में किसी सभ्यता के विकास का मापदण्ड उसके विभिन्न वर्गों और विशेषकर स्त्रियों के साथ लोगों का व्यवहार है। इसलिए गृह्यसूत्र काल में स्त्री जीवन भी परवर्ती युगों की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त और स्वतंत्र था। पत्नी के रूप में स्त्रियों का समुचित आदर था। पतिगृह पहुँचने पर उन्हें इस बात का आशीर्वाद भी मिलता था कि वह पति के सम्पूर्ण परिवार की सामाज्ञी बनें। माता के रूप वह आदर तथा श्रद्धा की पात्र थीं। इस काल में समाज में स्त्रियों की अवस्था कितनी उच्च्व थी। उनका कितना आदर व मान होता था, इसका पूर्ण परिदर्शन सामवेदीय गृह्यसूत्रों में देखने को मिलता है। बाद में ज्यों – ज्यों विदेशी विधर्मियों के शासन में देश आया त्यो–त्यो उनके प्रति समाज का दृष्टिकोण बदलता गया।

---

1. *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – पृ0सं0 18*
2. *मनुस्मृति – 3/56*

पिता व पुत्र में समन्वय -

पिता व पुत्र में समन्वय समाज के सही संचालन के लिए परमवाश्यक है। हिन्दू परिवार में पुत्र की बड़ी महत्ता है। पुत्र पर कुलवर्धन व विकास का पूरा भार होता है। कुटुम्ब की उत्पत्ति विवाह से एवं विकास पुत्र से होता है। सन्तान से कुटुम्ब भरा पूरा माना जाता है। संहिता काल से लेकर गृह्यसूत्रों के काल तक पुरूष, सन्तति की कामना से ही विवाह करता था। ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख मिलता है कि पिता को दस पुत्र उत्पन्न करने का आशीर्वाद दिया गया है।[1] गर्भाधान[2] व पुंसवन[3] संस्कार पुत्र प्राप्ति के लिए करने का विधान सामवेदीय गृह्यसूत्र करते हैं।

पुत्र उत्पन्न करना धार्मिक कर्तव्य मानकर शास्त्रकारों ने परिवार में इसकी अनिवार्यता बतलाई है। पुत्र उत्पन्न होने से व्यक्ति पितृऋण से मुक्त माना जाता था। आचार्य हेमचन्द्र की अभिव्यक्ति है कि पुत्र का स्पर्श केवल शारीरिक आनन्द का ही नही बल्कि मानसिक प्रीति का भी हेतु था।[4] पुत्रहीन स्त्री को अभागिन माना जाता था।[5] पुत्र के स्पर्श से अधिक सुखकारी इस संसार में कुछ नही है।[6] व्यक्ति चाहे धनवान हो या धनहीन पुत्र स्पर्श से तो उसे एक जैसा आनन्द होता है।

उपर्युक्त भावनाओं का पूर्ण रूप सामवेदीय गृह्यसूत्रों में दृष्टिगोचर होता है तभी इनमें ऐसा उल्लेख है कि यदि पिता प्रवास के बाद घर आता है तो ज्येष्ठ पुत्र के शिर को विविध पूर्वोक्त मन्त्रपूर्वक सूँघता है, जिसे मूर्धाभिघ्राण कहा जाता है।[7] स्वस्तरारोहण[8] प्रकरण में गृहस्वामी के बायीं तरफ सभी पुत्रों के बैठने का विधान है। ये सभी क्रियायें पिता और पुत्र के बीच समन्वय स्थापित करने की भावना ही है।

---

1. *ऋ0वे0 - 1/85/25*
2. *गो0गृ0सू0 - पृ0 362, जै0गृ0सू0 23/1, (विवाह प्रसंग में भी गर्भाधान का कथन), द्रा0 व खा0गृ0सू0 - पृ0 36*
3. *द्रा0 व खा0गृ0सू0 - पृ0 59, गो0गृ0सू0 - पृ0 370, जै0गृ0सू0 - पृ0 6*
4. *शब्दानुशासन - हेमचन्द्र - 5/3/125*
5. *रघुवंशम् - 1/65/71*
6. *महाभारत - 1/74/57*
7. *गो0गृ0सू0 - 2/8/21-25, जै0गृ0सू0 7/10*
8. *गो0गृ0सू0 - 3/9/6-14*

जब पुत्र की चर्चा आती है तो पुत्री का भी उल्लेख परमावश्यक हो जाता है। पुत्री का स्थान हिन्दू संयुक्त परिवार में पुत्र की अपेक्षा कुछ कम था। उसके सामाजिक और आर्थिक अधिकार अपेक्षाकृत कम रहे। वैदिक युग से कन्या इन्हीं विषम विडम्बनाओं और झकोरो से इली जाती रही हैं। वैदिक काल में ऐसी अवधारणा थी कि कन्या जन्म के समय स्वजनों को दुःख देती है, विवाह के समय पर्याप्त धन ले जाती है, युवावस्था में अनेक दोषों से युक्त होकर वंश को कलंकित करती है, इसलिए कन्या माता – पिता के हृदय को आघात पहुँचाने वाली होती है।[1] किन्तु यह दृष्टिकोण अनादि और अनन्त नही है। महाभारत की मान्यता है कि कन्या में सर्वदा लक्ष्मी का वास होता है।[2] महाराज मनु का इस विषय में कहना है कि कन्या पुत्र के ही समान होती है और पुत्र के अभाव में वही उत्तराधिकारिणी होती है।[3] महाभारत काल में देवयानी अपने पिता की प्राण थी। द्रौपदी का भी अपने पिता से अगाध प्रेम था।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी पुत्रियों से पिता का समन्वय स्थापित किया गया है। पुत्रों के समान पुत्रियों के भी संस्कार के विधान है, लेकिन इतना अन्तर तो अवश्यमेव है कि इनके संस्कार अमन्त्रक कराये जाते हैं।

इस प्रकार सामवेदीय गृह्यसूत्र जन्य और जनक में समन्वय स्थापित कर समाज को एक स्वच्छ राह प्रदान करते हैं।

गुरू व शिष्य में समन्वय –

भारतीय संस्कृति में गुरू का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'गुरूः ब्रह्मा' कहकर गुरू को ईश्वर की कोटि में रखा गया है। समाज को अन्धकार से निकालकर प्रकाशित करने का कार्य गुरु ही करता है। गुरु ही शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके शौच, आहार, अग्निसेवा और सन्धयोपासन की विधि बतलाता है। शिष्य भी वेदाध्यन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक गुरु का चरणवन्दन करता है। गुरु नित्य प्रति आलस्यहीन होकर शिष्य को शिक्षा देता है। हमारे धर्मग्रन्थों में आचार्य, उपाध्याय और गुरु में अन्तर बतलाया गया है। जो ब्राह्मण शिष्य को यज्ञोपवीत कर उसे

---

1. *ऐ० ब्रा० – 31/1 (सायणभाष्य)*
2. *महाभारत – 13/11/4*
3. *मनुस्मृति – 9/130*

यज्ञविद्या और उपनिषद् युक्त वेद पढ़ाता है उसे आचार्य कहते हैं।[1] जो ब्राह्मण वेद के एक भाग अथवा वेदांगों को जीविका के लिए पढ़ाता है उसे उपाध्याय कहते है।[2] जो ब्राह्मण किसी के गर्भाधान आदि कर्मों को विधिपूर्वक करता है और अन्न से पालन करता है वह ब्राह्मण गुरु कहलाता है।[3] जो अग्न्याधान, पाकयज्ञ और अग्निष्टोमों आदि यज्ञों को जिसकी ओर से आचार्य होकर करता है उसका वह ऋत्विक् कहलाता है।[4]

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी गुरु शिष्य की इस महती परम्परा का निर्वाह किया गया है। अनध्याय प्रकरण में शिष्य को निर्देशित किया गया है कि आचार्य निधन के दिन अनध्याय करे।[5] स्नातक के नियमों[6] का निर्देश करते समय गुरु की पूजा करने का विधान है। स्नातक के ही नियमों का निर्देश करते समय माता, पिता, गुरु व अतिथि को सर्वप्रथम भोजन कराने का विधान किया गया है।[7] महानाम्निक व्रत में आचार्य के प्रति अविरोधी स्वभाव वाला होने को कहा गया है।[8] ये सभी नियम गुरु व शिष्य परम्परा के समन्वय के ही निर्वाहक हैं। पूर्व परम्पराओं से का ही प्रभाव परवर्ती कालों में पड़ा। मनुस्मृति में भी गुरु व शिष्य की सद्परम्परा के नियमों का पुनरावलोकन किया गया। शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय तथा मन इनको रोककर हाथ जोड़े गुरु के मुख को देखता हुआ शिष्य खड़ा रहे। गुरु के 'बैठ जाओ' कहने पर ही गुरु बैठे।[9] शिष्य को चाहिए कि वह सर्वदा गुरु के सम्मुख सामान्य अन्न, वस्त्र तथा वेश में रहे। गुरु के पहले ही वह बिस्तर से उठ जाये तथा गुरु के सोने के बाद ही शयन करे।[10] इस प्रकार गुरुओं के प्रति तो सामान्य

---

1. मनुस्मृति – 2/140
2. मनुस्मृति – 2/141
3. मनुस्मृति – 2/142
4. मनुस्मृति – 2/143
5. गो0गृ0सू0 – 3/3/24
6. गो0गृ0सू0 – पृ0सं0 633
7. द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 3/1/31, गो0गृ0सू0 3/5/1
8. गो0गृ0सू0 – 3/2/11
9. मनुस्मृति – 2/192 – 193
10. मनुस्मृति – 2/194

व्यवहार करने को तो कहा ही गया है, लेकिन गुरु पुत्र के साथ में भी वैसा व्यवहार करने को कहा गया है। गुरु का पुत्र छोटा हो या समान अवस्था हो अथवा यज्ञ कर्म में शिष्य हो यदि वह वेद को पढ़ाने में असमर्थ हो तो उसका गुरु के समान सम्मान करना चाहिए।[1]

इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि गुरु शिष्य परम्परा का निर्वाह प्राचीन काल से लेकर अब तक निर्वाध गति से चला आ रहा है। सामवेदीय गृह्यसूत्र भी इस परम्परा के निर्वाहक हैं।

ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ में समन्वय -

हमारी सम्पूर्ण हिन्दू संस्कृति में आश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मानव जीवन को सुगठित एवं सुव्यवस्थित करने के निमित्त भारतीय समाज में आश्रम व्यवस्था को लागू की गयी। हमारे धर्म तत्त्व वेत्ताओं ने मानव जीवन को व्यवस्थित एवं समग्र बनाने के लिए उसे आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत विभक्त किया। इसमें उनकी यह मान्यता रही कि मानव के लौकिक व पारलौकिक जीवन दोनों की महत्ता थी। वे पारलौकिक जीवन को ज्यादा महत्त्व देते थे। उन्होनें यह स्वीकार किया कि जीवन का लक्ष्य केवल भोग और जीना ही नही बल्कि योगमय आदर्शात्मक आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की ओर प्रवृत्त होना भी है। इस व्यवस्था में ज्ञान और विज्ञान लौकिक और पारलौकिक कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्‌भुत समन्वय है। उन्होनें जीवन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए ज्ञान, कर्तव्य त्याग और अध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ सन्यास नामक चतुर्विध आश्रमों में विभक्त किया। जीवन का लक्ष्य तो मोक्ष है इसलिए अन्त में सन्यास की व्यवस्था की गयी।

सूत्रकाल में आश्रम व्यवस्था भारतीय समाज में पूर्णरुपेण प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आश्रम की संख्या उत्तर वैदिक काल से चार हो चुकी थी। गौतम व आपस्तम्भ धर्मसूत्रों को देखने से पता लगता है कि आश्रमों के नामों और क्रमों में अन्तर है। लेकिन इनके मूलाधार में कोई अन्तर नही है।[2]

---

1. *मनुस्मृति - 2/208*
2. *गौ०ध०सू० - 3/2, आप०ध०सू० - 2/9/21/1*

सामवेदीय गृह्यसूत्रों ने ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ जीवन में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। मानव के बौद्धिक और शिक्षा के जीवनार्थ ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की गयी है। ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक हीं ग्रहण की गयी शिक्षा फलवती होती है। ब्रह्मचर्य पूर्वक अर्जित की गयी शिक्षा से मनुष्य की ज्ञानगरिमा बढ़ती है। ब्रह्म शब्द का अर्थ है वेद और चर्य शब्द का अर्थ है आचरण करना अतः ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है वेदों का अनुसरण करना।

मानव जीवन में गृहस्थ जीवन भी पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इसी पर अन्य आश्रम आश्रित हैं। ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार के पश्चात् गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करता था। बिना गृहस्थ जीवन के ब्रह्मचर्य जीवन भी खण्डित माना जाता था।[1] मनु के कथनानुसार जिस प्रकार सभी नदी नद सागर में संस्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम में संस्थित हो जाते हैं।[2] गृहस्थ का त्यागकर सन्यसाश्रम ग्रहण करने वालों की निन्दा की गयी है। देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण से मुक्ति इसी आश्रम के माध्यम से मिलती है। पंच महायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ) की भी क्रिया इसी आश्रम के माध्यम से मिल सकता है। अतः यह आश्रम बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी इन दोनो आश्रमों में सामंन्जस्य स्थापित किया गया है। ब्रह्मचर्य ओर गृहस्थ दोनो अपनी श्रममूलक कार्य विधियों और महत्वाकांक्षी भूमिका का निर्वाह करते हैं। ये दोनो आश्रम जीवन के विविध पक्षों का उत्थान करते हैं। दोनो आश्रम व्यक्ति के कर्मप्रधान कल्याणकारी जीवन का विकास करते हैं। बौद्धिक व शारीरिक विकास में स्थायित्त्व प्रदान करते हैं। व्यक्तियों का समूहों में तारतम्य स्थापित करते हैं। इनसे व्यक्ति के व्यवहारिक जीवन का विकास होता है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में ऐसा वर्णन है कि ब्रह्मचारी पंचव्रतों (गोदानिक, व्रातिक, आदित्य, औपनिषदिक व ज्येष्ठसामिक) का पालन करता हुआ गोदानिक व्रत में अधीत् वेदों का उपाकर्म के माध्यम से अभ्यास करता हुआ, अनाध्याय के नियमों का पालन करता हुआ, समावर्तन संस्कार करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करे। कैसा सुन्दर समन्वय ब्रम्हचर्य और गृहस्थ जीवन का प्रतिपादित है।

---

1. *महाभाष्यं – 2/1/26*
2. *मनुस्मृति – 6/90*

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सामवेदीय गृह्यसूत्र मानव के विविध विश्वासों, आशाओं, आकांक्षाओं व भावनाओं को अभिव्यक्त करते हुए उनके जीवन में समन्वय स्थापित करते हुए परिवर्तन करते हैं तथा उनमें भी परिवर्तन करते है। आज जीवन की धारणा मूलतः परिवर्तित हो चुकी है। बहुविध वैज्ञानिक अविष्कार व्यक्ति के जीवन के अनेक रहस्यो को उद्घाटित कर चुके हैं। मनुष्य प्रकृति पर नियंत्रण रखने की तमाम कोशिश कर रहा है। संसार में बहुविध परिवर्तन होने पर भी जीवन के अनेक रहस्यमय तथ्य एवं मनुष्य के अस्तित्व की अनेक आवश्यकतायें निश्चित ही विद्यमान रहेगी। जीवन के उद्गम पर आज भी मानव अदृश्य के किसी रहस्यपूर्ण स्पर्श का अनुभव कर रहा है। यही रहस्य मानव की धार्मिक भावनाओं को जीवित रखने में सहायक होगा। यद्यपि अनेक वैज्ञानिक – खोज हो रहे है फिर भी मानव अपने को उस धार्मिक भावना से पृथक् न रख सकेगा। जीवन का परिष्कार हमेशा होता रहेगा। जिस प्रयोजन की पूर्ति के लिए गृह्यसूत्रों का प्रणयन हुआ वे प्रयोजन भले ही क्षीणावस्थाओं में हो पूर्ण होते रहेगें।

तृतीय अध्याय

मंत्र भाग की समीक्षा

मंत्र भाग की समीक्षा

गृह्यसूत्र गृह्यकर्मों से व्याप्त हैं और गृह्यकर्मों के आधारभूत स्तम्भ है मन्त्र इस तरह गृह्यसूत्र गृह्यकर्म तथा मन्त्र परस्पर सापेक्ष हैं। मन्त्रों पर ही सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय आधृत है। 'मन्' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने पर मंत्र शब्द बना है, इस प्रकार मंत्र मनन करने के माध्यम हैं।

'मन' धातु के तीन अर्थ माने जाते हैं,[1]– ज्ञानार्थक, विचारार्थक, सत्कारार्थक। ज्ञानार्थक मन् धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने पर अर्थ होता है – 'मन्यते (ज्ञायते) ईश्वरादेशः अनेन इति – अर्थात् जिसके द्वारा ईश्वरीय आदेशों का ज्ञान हो वह भाग मंत्र कहलाता है।

मन् धातु का दूसरा अर्थ विचारात्मक बतलाया गया है, इसमें ष्ट्रन प्रत्यय करने पर अर्थ होगा – 'मन्यते (विचार्यते) ईश्वरादेशः येन सः मन्त्रः – अर्थात् जिससे ईश्वरीय आदेशों का भली भाँति विचार, चिन्तन तथा मनन किया जाय वह भाग मंत्र कहलाता है।

मन् धातु का तीसरा अर्थ 'सत्कारार्थक' बतलाया गया है, इससे ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर अर्थ होगा 'मन्यते (सत्क्रियते) देवता विशेष अनने इति' अर्थात् जिससे देवताओं का सत्कार द्योतित हो वह मन्त्र कहलाता है।

उपर्युक्त मंत्र शब्द की तीनों व्युत्पत्तियों में अर्थतः विभेद तो दृष्टिगोचर होता है, लेकिन मूलतः इनमें कोई भेद नही है। इन तीनों को समष्टि रूप में इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है – 'वेद का वह विभाग मंत्र कहलाता है जिसमें ईवरीय ज्ञान का वर्णन है।' इन अभिमतों के अतिरिक्त मंत्र शब्द की अनेक व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं – "तच्चोदकेषु मन्त्रख्या"[2] अर्थात् कर्म प्रेरक वाक्य मंत्र हैं।" "विहितार्थामिधायको मन्त्रः"[3] अर्थात् ब्राह्मण द्वारा विधानं किये गये अर्थ के स्मारक वाक्य मंत्र हैं। माधवाचार्य ने इन मतों का संशोधन करते हुए अनुष्ठान के स्मारक वाक्य प्रयोग को मंत्र कहा है। "अहेर्बुध्निय .... मन्त्र शब्द प्रयुज्यते।"[4] इस तरह यह तथ्य

---

1. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - वाचस्पति गैरोला - पृ0सं0 27
2. जै0मी0सू0 - 2/1/32
3. जै0न्या0मा0वि0 - 2/1/22
4. माधवाचार्य जै0न्या0मा0वि0 - 2/1/22-23

स्वयमेव स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार व्याकरण का रहस्य सूत्रों पर, दर्शन का कारिकाओं पर तथा काव्य का श्लोकों पर आधृत है, वैसे ही सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय मंत्रों पर आधृत है।

मंत्रों के विभाग से ही संहिताओं का विभाजन है। वाचस्पति गैरोल में मंत्रों को मूलतः अविभाज्य माना है।[1] मानव मस्तिष्क जब धीरे – धीरे कमजोर होने लगा, तब मन्त्रों को विभक्त किया गया।

वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करते हुए 'वेदत्रयी' नाम सम्मुख आता है। यह 'त्रयी' शब्द मंत्रों के विविध विभाजन को ही कहता है। 'त्रयी' के अन्तर्गत ऋक्, यजुः और साम का उल्लेख किया जाता है।[2] ऋक् मंत्रों के अन्तर्गत देवताओं की प्रार्थना निहित है – "ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋक्"[3]। ऋक् मंत्र छन्दोबद्ध हैं। ऋक् मन्त्र को ऋचा कहते है, और उसका वेद ऋग्वेद है। ऋचाओं का संकलन ही 'ऋग्वेद संहिता' है।

द्वितीय प्रकार के मंत्र 'यजुष्' कहलाते हैं। 'यजुष्' का अर्थ है "यजति यजते वा अनेन इति यजुः"[4] अर्थात् जिन मंत्रों से यजन कार्य सिद्ध होते है वे 'यजुष्' कहलाते हैं। "अनियताक्षारावसानो यजुः"[5] अर्थात् जिन मंत्रों में अक्षरों की संख्या अनियत अर्थात् अनिश्चित हो वे 'यजुष्' कहलाते हैं। "गद्यात्मको यजुः"[6] अर्थात् गद्यात्मक मंत्रों का 'यजुष्' कहा जाता है। "शेषे यजुः शब्दः"[7] अर्थात् 'ऋक् और साम' से अतिरिक्त मंत्र 'यजुष्' कहलाते हैं। इस तरह यह स्पष्ट है कि यज्ञ के साधनभूत अनियत अक्षरों वाले ऋक् और साम से अतिरिक्त गद्यात्मक मंत्र 'यजुष्' कहलाते हैं। इन मंत्रों का वेद 'यजुर्वेद' और संकलन 'यजुर्वेद संहिता' है।

---

1. *संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – पृ0सं0 29– वाचस्पति गैरोला*
2. *संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – पृ0सं0 28– वाचस्पति गैरोला*
3. *संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – पृ0सं0 28– वाचस्पति गैरोला*
4. *संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – पृ0सं0 28– वाचस्पति गैरोला*
5. *'वैदिक साहित्य और संस्कृति' – आचार्य बलदेव उपाध्याय – पृ0सं0 141*
6. *'वैदिक साहित्य और संस्कृति' – आचार्य बलदेव उपाध्याय – पृ0सं0 141*
7. *'वैदिक साहित्य और संस्कृति' – आचार्य बलदेव उपाध्याय – पृ0सं0 141*

'त्रयी का अन्तिम विभाजन साम कहलाता है। "स्यति नाशयति विघ्नं इति सामन्"[1] अर्थात् जिन मंत्रों से विघ्नों की शान्ति की जाय वे 'सामन्' कहलाते हैं। "समयति सन्तोषयति देवान् अनेन इति"[2] अर्थात् जिन मंत्रों से देवताओं को संतुष्ट किया जाता है उन्हें 'सामन्' कहते हैं। "गीतिषु सामाख्या"[3] अर्थात् गाने योग्य मंत्रों को साम कहा जाता है। "ऋचि अध्यूढ़ं साम"[3] अर्थात् ऋचाओं के ऊपर गाये जाने वाले गान 'साम' कहलाते हैं।

इन मतों को एक वाक्य में इस प्रकार कहा जा सकता है कि विघ्नशान्ति व देवसन्तुष्टि परक गेयात्मक मंत्र 'साम' कहलाते हैं। इन मंत्रों के वेद को 'सामवेद' व संकलन 'सामवेद संहिता' कहा जाता है। इस प्रकार 'वेदत्रयी' स्पष्ट होता है। मेरी दृष्टि में यह मंत्रों का त्रिविध विभाजन न होकर यह मंत्रों की तीन प्रकार की वर्णन शैली है।[4] अब मंत्रों का विभाजन चार प्रकार से किया जाता है, ऋक् यजुः, साम तथा अथर्व। यही विभाजन आधुनिक काल में सर्वमान्य है। तीन प्रकार के विभाजन की चर्चा तो अभी की जा चुकी है। चौथे विभाजन अथर्व के विषय में कहा जा सकता है कि – थर्व शब्द का अर्थ है हिंसा, अतः 'अथर्व' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ अहिंसक वचन। ऋक यजुः तथा साम तो पारलौकिक वर्णन से ही युक्त है, लेकिन अथर्व का सम्बन्ध लौकिक भी है। इसमें मारण मोहन उच्चाटन, औषधात्मक अथर्ववेद तथा संकलन को अथर्ववेद संहिता कहा जाता है।

मन्त्रोच्चारण कैसे करें ? –

गृह में होने वाले कर्म गृह्यकर्म कहलाते हैं। गृह्यकर्मों का उचित सम्पादन उचित ढ़ंग से उच्चारित मंत्रों द्वारा ही सम्भव है, अतः इस परिप्रेक्ष्य में यह ज्ञात कर लेना आवश्यक होता है कि मन्त्रोच्चारण करते समय किन – किन तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए।

मीमांसा का अभिमत है कि मंत्र देवताओं का विग्रह होता है।[5] ऐसे मन्त्रों के उच्चारण में प्रथम आवश्यकता अर्थ – ज्ञान है। अर्थज्ञान के निमित्त देवताज्ञान, ऋषिज्ञान तथा स्वर–वर्णज्ञान,

---

1. *संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – पृ०सं० 29– वाचस्पति गैरोला*
2. *संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – पृ०सं० 29– वाचस्पति गैरोला*
3. *'वैदिक साहित्य और संस्कृति' – आचार्य बलदेव उपाध्याय – पृ०सं० 152*
4. *पद्यात्मकं, गद्यात्मक तथा गीति।*
5. *'वैदिक साहित्य और संस्कृति' – आचार्य बलदेव उपाध्याय – पृ०सं० 517*

छन्दज्ञान तथा विनियोग ज्ञान का होना आवश्यक होता है।

सर्वप्रथम आवश्यकता है – देवताज्ञान। देवताज्ञान के बिना मन्त्र का अर्थज्ञान अपूर्ण होता है। श्रुतिप्रतिपादित बड़े – बड़े कर्मों अथवा स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित कर्मों का फल मंत्रों के देवताज्ञान के बिना प्राप्त ही नही होता। बृहद्देवता में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

"नहि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।

लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मलाम् फलमश्नुते।।"[1]

बृहददेवता का इसी प्रसंग में कहना है कि भले ही प्रयत्न करे, लेकिन प्रत्येक मंत्र के देवता का ज्ञान कर लेना चाहिए, क्योंकि देवता का जानने वाला ही मंत्रों के वास्तविक अर्थ को जानता है –

"वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे – मन्त्रे प्रयत्नतः।

दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति।।"[2]

धार्मिक कृत्यों को करने वाले व्यक्ति को जब देवताज्ञान होता है तब वह उस देवता के गुणों व उसकी प्रकृति से परिचित होता है। इस प्रकार उस देवता के अनुकूल कार्य करने में उसे सरलता होती है, अतः फल प्राप्ति में आसानी होती है।

मन्त्रोच्चारणार्थ द्वितीय आवश्यकता ऋषि ज्ञान है – "ऋष्यादि ज्ञाने धर्मः"[3] ऋषियों ने मंत्रों का साक्षात् दर्शन किया था। ऋषिशब्द शब्द – ज्ञान, तर्क, चिन्तन तथा प्राणादि का बोधक होता है। 'ऋषियों ने मंत्रों का दर्शन किया था का तात्पर्य है बिना ऋषि अर्थात् ज्ञान, तर्क या चिन्तन से मन्त्रार्थज्ञान कथयपि सम्भव नही है। इसी वैदिक सम्प्रदाय में कहा जाता है कि ऋषियों ने मंत्रों का दर्शन किया था। अतः ऋषित्व मंत्रों का प्राणस्वरूप है। जो दैवत प्राण से सम्बन्ध रखता है। इसलिए मन्त्रोच्चारण करते समय ऋषि ज्ञान परमावश्यक है।

स्वर तथा वर्णों का ज्ञान भी मन्त्रोच्चारण के लिए अनिवार्य है, ऐसा तभी सम्भव है जब व्याकरण ज्ञान हो। स्वर व वर्णों के ज्ञान से ही मन्त्रोच्चारण शुद्ध होता है। शुद्ध मन्त्रोच्चारण

---

1. *बृ०दे० – 1/4*
2. *बृ०दे० – 1/5*
3. *वैदिक सम्पदा – पं० वीरसेन वेदाश्रयी – पृ०सं० 12*

से ही यज्ञ के लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है। इस सन्दर्भ में शिक्षा ग्रन्थों में भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। पाराशरी शिक्षा में कहा गया है कि अशुद्ध मन्त्रोच्चारण करने से मोक्ष की प्राप्ति नही होती इसलिए सम्पूर्ण प्रयत्न करके द्विज शुद्ध मन्त्रोच्चारण करने वाला होवे –

"अशुद्धपठनाच्चैव नैव मोक्षं प्रपेदिरे।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शुद्धपाठी भवेद्विजः।।"[1]

इसी प्रकरण में आगे कहा गया है कि यदि ऐसा नही होता अर्थात् द्विज शुद्ध मन्त्रोच्चारण नही करता तो अत्यन्त दारुण कुम्भीपाक नर्क को जाता है –

"अन्यथानिरयं यान्ति कुम्भीपाकं च दारुणम्"[2]

एक दूसरी शिक्षा का इस सन्दर्भ में कथन है कि – "सम्यक् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते"1 अर्थात शुद्धवर्ण प्रयोग से ब्रह्मलोक में महत्ता प्राप्त होती है। वैदिक साहित्य में वृत्रासुर का आख्यान भी यही प्रतिपादित करता है कि मन्त्र के अशुद्धोच्चारण के परिणामस्वरूप स्वयं यज्ञकर्ता वृत्रासुर ही मारा गया –

"मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वजो यजमानं हिनस्तियथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्।।"[3]

अतः इन तथ्यों से यही बात स्पष्ट होता है कि मन्त्रोच्चारण में स्वर व वर्णज्ञान भी एक अनिवार्य पहलू है।

स्वरों की चर्चा करते समय यह जान लेना भी आवश्यक होता है कि स्वर मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं – उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। कुछ विद्वानों की दृष्टि में स्वरों की संख्या सात है, इसमें इन तीन स्वरों के अतिरिक्त एकश्रुति, प्रचय, अनुदात्ततर और उदात्ततर इन चार स्वरों की गणना की गयी है।[4] गायन में भी सात स्वर माने जाते है ये सात स्वर है – षड्ज, ऋषभ, निषाद, गान्धार, मध्यम, पंचम और धैवत। मेरी दृष्टि में गायन के इन सप्तस्वरों का उदात्तादि सप्तस्वरों में एकीकरण हो जाता है, क्योकि दोनो ही प्रकार के स्वरों की उत्पत्ति एक ही प्रणन

---

1. *पाराशरी शिक्षा, कारिका नं0 13 (शिक्षा संग्रह पर आघृत)*
2. *पाराशरी शिक्षा, कारिका नं0 14 (शिक्षा संग्रह पर आघृत)*
3. *पाराशरी शिक्षा, कारिका नं0 31 (शिक्षा संग्रह पर आघृत)*
4. *पाराशरी शिक्षा, कारिका नं0 52 (शिक्षा संग्रह पर आघृत)*

क्रिया द्वारा होती है।

व्याकरण में उदात्तादि स्वरों के उच्चारण स्थान तथा प्रयत्न को निश्चित किया गया है। एक ही वर्ण का उच्चारण उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तीनों में किया जा सकता है – कण्ठ तथा तालु द्वारा जब शब्दोच्चारण का प्रयास ऊर्ध्वगामी होता है तब इस स्थिति में उदात्त स्वर होता है –" उच्चैरूदान्तः"[1]। यही प्रयास जब नीचे की ओर किया जाता है तो स्वर अनुदात्त होता है – "नीचैरनुदात्तः"[2]। प्रयास जब मध्य भाग से किया जाता है तो स्वर स्वरित होता है – "समाहारः स्वरितः"[3]। यह मन्त्रोच्चारण केवल ज्ञानकर लेने मात्र से ही सम्भव नही है। बल्कि अनवरत अभ्यास द्वारा ही सम्भव है। मन्त्रोच्चारण कर्ता इन स्वरों का संकेत हस्तचालन क्रिया द्वारा प्रकट करता है। सम्यक् प्रकारेण उच्चारण तथा हस्तचालन करता हुआ मन्त्रोच्चारण कर्ता ऋग्यजुः तथा साममंत्रों द्वारा पवित्र होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[4]

इस हस्तचालन प्रकरण में पं0 वीरसेन वेदश्रमी जी का अभिमत देखिये – "हस्तकण्ठ एवं प्राण इन तीनों के साहचर्य से उत्पन्न उदात्तादि स्वर जो गति कम्पन एवं गुंजन शरीर के अन्दर तथा इसकी नाड़ियों में उत्पन्न करते हैं वे मंत्र स्वर अक्षर एवं छन्द के अनुसार होते हैं। स्वर सहित मन्त्रोच्चारण का प्रभाव सूक्ष्म रूप में अवश्य पडता है। वही ध्वनि वाह्य रूप में भी व्याप्त होती है। इसी प्रकार शरीर का और बाहर का वातावरण मंत्र के अक्षर, स्वर एवं छन्द से संस्कारित होता है। मंत्र से संस्कारित वातावरण होने पर विशेष पवित्रता वातावरण की हो जाती है, और उस पवित्र वातावरण के माध्यम से विविध तत्त्वों में वृद्धि ह्रास आदि करके तथा विश्व के मानस क्षेत्र को प्रभावित करके अपनी कामनाओं की पूर्ति की जा सकती है। अतः स्वर सहित तथा अत्यन्त शुद्धता से वेद मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए।[5]

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि मंत्रोच्चारण की शुद्धता के लिए चतुर्थ आवश्यकता छन्द ज्ञान की है। छन्द मंत्रों के आच्छादक होते हैं। आच्छादक के ज्ञान बिना आच्छाद्य का ज्ञान हो ही नही सकता। संसार की हर वस्तु किसी न किसी आच्छादन में रहती है,

1. *अष्टाध्यायी, पाणिनि 1/2/29*
2. *अष्टाध्यायी, पाणिनि 1/2/30*
3. *अष्टाध्यायी, पाणिनि 1/2/31*
4. *याज्ञवल्क्य शिक्षा, कारिका सं0 45 (शिक्षा संग्रह पर आधृत)*
5. *वैदिक सम्पदा – पं0 वीरसेन वेदाश्रयी – पृ0 32*

इसलिए यह सम्पूर्ण दृश्यमान छन्दमय है। यजुर्वेद में कहा गया है कि यह संसार ही छन्दमय है – "पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः।"[1] जैसे गायन के स्वरों का विभाजन सात प्रकार से किया गया है वैसे ही ये छन्द भी सात प्रकार के होते है – गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। वेदश्रमी जी ने इन सप्त छन्दों का गायन के सप्त स्वरों के साथ सम्बन्ध इस प्रकार बतलाया है जैसे षड्ज स्वर का सम्बन्ध गायत्री छन्द से, ऋषभ का उष्णिक् से, गान्धार का अनुष्टुप् से, मध्यम का वृहती से, पंचम का पंक्ति से धैवत का त्रिष्टुप् से और निषाद का सम्बन्ध जगती छन्द से है।[2] छन्द ज्ञान के बिना मंत्रोच्चारण शुद्ध रूप से नही किया जा सकता। छन्द ज्ञान से वैदिक कर्मों की अखण्डता, देवकृपा प्राप्ति तथा मानव जीवन में सफलता प्राप्त होती है।

शुद्ध मंत्रोच्चारण के लिए पंचम आवश्यकता विनियोग ज्ञान की है। किस मंत्र का विनियोग कहाँ होना चाहिए, इसके ज्ञान के बिना वैदिक कर्म सम्पादित हो ही नही सकते, उदाहरणार्थ "द्यौ शान्तिः"[3] मंत्र का विनियोग शान्तिकरण में किया जाता है, यदि कोई ऋत्विक् इसका प्रयोग अग्न्याधान में करता है, तो निश्चित ही वह कर्म निष्फल ही होगा।

इस विवेचन से यही बात स्पष्ट होती है कि 'देवता, ऋषि, छन्द स्वर तथा वर्णोच्चारण एवं विनियोग ज्ञान से युक्त मंत्र प्रयोग ही सफल होता है। इनमें से अगर किसी एक का भी ज्ञान नही है तो मंत्र निष्फल होता है। इन सभी तथ्यों से युक्त उच्चारण ही शुद्धोच्चारण कहलाता है।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में वर्णित गृह्यकर्मों में प्रयुक्त मंत्रों की समीक्षा इस प्रकार की जा सकती है –

---

1. *यजुर्वेद 14/19*
2. *वै०सं० – पं० वीरसेन वेदाश्रयी पृ० 3*
3. *युजुर्वेद – 36/17*

दीर्घायु -

प्रत्येक व्यक्ति की यह कामना होती है कि वह रोगमुक्त होते हुए दीर्घकाल तक जीवन व्यतीत करे, इसी भावना से भावित अनेक मंत्रों का विनियोग सामवेदीय गृह्यसूत्रों में किया गया है। दीर्घायुपरक मन्त्र अग्न्याधान[1], बलिहरण[2], प्रायश्चित[3], विवाह[4], लाजाहोम[5], पुत्रप्राप्त्यर्थ पिण्डप्राशन[6] उपनयन[7] आदि अवसरों पर विनियुक्त है। खादिर व द्राह्यायण गृह्यसूत्रो में भी दीर्घायुप्राप्ति परक मंत्रों का विनियोग विवाहादि अवसरों पर किया गया है।[8] सम्पूर्ण मानव समाज के लिए इस प्रकार के मंत्रों का विनियोग करना 'वसुधैव कुटुम्कम्' की भावना से ही सम्भव है। यह भावना सृष्टि के आदिकाल से ही चली आ रही है। दीर्घायुप्राप्ति के लिए भी व्यक्ति विविध प्रकार के यम नियमों का पालन करता है। नियम पालन पूर्वक मंत्रपूत कार्यों से निश्चित ही व्यक्ति दीर्घकालीन जीवन व्यतीत करते हुए अन्त में परमधाम को प्राप्त करता है।

अग्नि -

वैदिक वाङमय में अग्नि विशिष्ट महत्ता प्राप्त है। वेदों में सर्वप्राचीन ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त 'अग्नि' से ही सम्बन्धित है। इसी परम्परा का निर्वाह सामवेदीय गृह्सूत्रों में भी किया गया है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त मन्त्र अग्नि की महत्ता को विशिष्ट रूपेण प्रतिपादित करते हैं। इन मंत्रों में प्रतिपादित किया गया है कि अग्नि आयुष्कर, रोगविनाशक एवं रोगों को दूर करने वाला है।

---

1. गो०गृ०सू० पृ०सं० - 9
2. गो०गृ०सू० पृ०सं० - 128
3. गो०गृ०सू० पृ०सं० 263
4. गो०गृ०सू० पृ०सं० - 289 एवं 293, जै०गृ०सू० - 21/20
5. गो०गृ०सू० पृ०सं० - 299
6. गो०गृ०सू० पृ०सं० -
7. जै०गृ०सू० - 11/21
8. खा०गृ०सू० तथा द्रा०गृ०सू० पृ०सं० 21 एवं 29

प्राचीन काल में जो रोग चिकित्सा की दृष्टि से असाध्य होते थे, उन्हें राक्षस की संज्ञा प्रदान की गई थी। इस प्रकार के रोगों से मुक्ति के लिए भी सामवेदीय गृह्यसूत्रों में मंत्रो का विनियोग किया गया है। पाक यज्ञ में स्थालीपाक के समय कर्मप्रदीपोक्त प्रायश्चितों का विवेचन करते समय अग्नि की जो उपासना की गयी है वह इसी प्रसंग में है।[1] अग्नि का औषधियों की आत्मारूप में स्पष्ट वर्णन गोभिल गृह्यसूत्र में है।[2] इसी भावना से युक्त होकर मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने अग्नि से आयु तथा बलप्राप्ति की कामना की है –
"पुनरूर्जा .... पाह्यंहसः।।"[3] अर्थात् हे अग्नि बल, अन्न एवं आयु के साथ पुनः हम लोगों के पास आइये और हम लोगों की पापों से रक्षा कीजिए।

गोभिल व जैमिनि गृह्यसूत्रों में पाकयज्ञ के समय हवियों की आहुति देते समय सामान्य नियमों का वर्णन करते हुए अग्नि से मृत्युपाश से मुक्ति की कामना की गई है –

"अग्निरेतु प्रथमो देवताभ्यः सोऽस्यै प्रजां मुंचतु मृत्युपाशात्।।"[4]

बालक के जन्म लेते समय सामवेदीय गृह्यसूत्रों में मेधा अर्थात् बुद्धि प्राप्ति के लिए अग्नि से कामना की गई है – "मेधां ते मित्रावरूणौ"।[5] विवाह के समय चतुर्थीकर्म के अवसर पर अग्नि एक दोषनिराकर्ता के रूप में वर्णित है – "अग्निप्रायश्चिते"[6] अर्थात् अग्नि इस प्रकार का तत्त्व है कि जो शारीरिक दोषों अर्थात् रोगों का परिमार्जन कर गुणों अर्थात् निरोगता को प्रदत्त करता है।

उपनयन संस्कार में माणवक की रक्षा का अधिकार अग्नि को दिया गया है। इस अवसर पर प्रयुक्त मन्त्र में कहा गया है कि मै इस माणवक के शरीर को तुम्हे सौप रहा हूँ, तुम इसकी हर प्रकार से रक्षा करना "अहुरइदम्"[7]। इतना ही नही शरीर धारियों के अतिरिक्त भी अग्नि

---

1. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 257*
2. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 257*
3. *सा0सं0उ0 – 9/2/8*
4. *मं0ब्रा0 – 1/1/10*
5. *खा0गृ0सू0 तथा द्रा0गृ0सू0 – 2/2/35, गो0गृ0सू0 पृ0 – 394*
6. *जै0गृ0सू0 – 23/6, गो0गृ0सू0 पृ0सं0 336*
7. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 481*

अपने गुणों से अन्य वस्तुओं को और उपयोगी बनाता है। अग्नि औषधियों को भी कल्याणकारी एवं सुखकारिणी बनाता है। पाकयज्ञ के समय अग्नि के लिए कहा गया है कि वह देवताओं को प्रदत्त हवियों को उनके पहले ही भक्षण कर गुणकारी बनाकर देवताओं को प्रदान करे एवं औषधियों को सुखकारिणी बनावें – "अग्नि प्राश्नातु"।[1]

अग्नि के इन्हीं महनीय गुणों के कारण मनुष्य के जीवन में इसकी महत्वपूर्ण उपयोगिता है। अन्य वेदों में भी अग्नि का वैशिष्ट्य निरूपित है। एक मन्त्र में ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि अग्नि हिम (शैत्य) की औषधि है। इस कथन से यही अर्थ निकलता है कि जो रोग शैत्य के कारण उत्पन्न होते है वहाँ अग्नि तत्त्व के प्रयोग द्वारा उससे मुक्ति पाया जा सकता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कहा गया है कि "अग्निर्हिमस्य भेषजम्"।[2] अग्नि के इन्हीं गुणों को देखकर ऋषियों ने इसको अपना निकटवर्ती, रोगमुक्तिकर्ता तथा कल्याणकारी बतलाया है – "अग्ने त्वं नो ....त्राता शिवो भव"।[3]

सूर्य –

संसार के सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा के कारण सूर्य इस जगत का पिता कहलाता है। जब सूर्य उगता है तो वह कितने सूक्ष्म व स्थूल हानिकारक क्रिमियों को विनष्ट करता है। अनके प्रकार की गुण व धर्मयुक्त औषधियों के गुणों की वृद्धि करता है। रोगोत्पादक कीटाणुओं के नाश को ही ध्यान में रखकर प्रस्तुत मंत्र में इस प्रकार कथन किया गया है – "देवस्त्वा"[4] सम्पूर्ण दोषों को दूर करने के ही कारण ही सूर्य को संस्कर्ता कहा गया है।[5] सूर्य के इन्हीं गुणों का अवलोकन कर अनेक मंत्रों में इनकी भूरि – भूरि प्रशंसा की गयी है।[6] सूर्य से पाप, रोग एवं विभिन्न अनिष्टों

---

1. जै0गृ0सू0 25/3, गो0गृ0सू0 पृ0 682
2. यजुर्वेद – 23/10
3. यजुर्वेद – 25/47
4. द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 1/2/14, जै0गृ0सू0 2/13, गो0गृ0सू0 –1/7/23
5. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 337
6. द्रा0गृ0सू0 तथा खा0गृ0सू0 – 2/4/7, जै0गृ0सू0 23/10, गो0गृ0सू0 पृ0 423, 537, 802, 815

से मुक्ति की कामना की गयी है।[1] एक मंत्र में सूर्य को प्राणियों के जीवन के निमित्त कहा गया है अर्थात् वह आयु की रक्षा करता है।[2] सूर्य के इसी गुणधर्म के कारण यजुर्वेद के भी एक मन्त्र में सूर्य को यज्ञकर्ता के अविच्छिन्न आयु को धारण करने वाला कहा गया है। यज्ञकर्ता यज्ञ की आहुतियों में विविध प्रकार की घृतादि आहुतियों को अग्नि में प्रदान करता है, इससे एक आरोग्यदायक शक्ति उत्पन्न होती है, इसी शक्ति को सूर्य स्वयं तक आक्षिप्त कर पुनः प्राणियों तक प्रक्षिप्त करता है, इससे सभी लोग आरोग्य लाभ करते है देखिये –

"विभ्राड् बृहत्पिवतु सौम्यं मध्यवायु" ।[3] अर्थात् प्रकाशित होता हुआ सूर्य यज्ञकर्ता में अविच्छिन्न आयु को धारण करता हुआ बृहद् औषधियों के मधु को ग्रहण करे।

इन विवरणों से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि सूर्य इस चराचर जगत का आधार है। सूर्य की किरणें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में जगत में स्थित जीवों की रक्षा करती हैं। यह बाह्य जगत में दृश्यमान अन्धकार को तो दूर करता ही है, हमारे अन्तः स्थित अन्धकार अर्थात् आन्तिरिक मलीनता (रोगों) से हमारी रक्षा करता है। क्योकि इसकी किरणें औषधियों के गुण व धर्म में वृद्धि करती है। "सूर्य आत्माजगतस्थुषश्च"[4] इसी भावना से भावित है।

वायु –

यह सर्वजनविदित है कि वायु एक परमावश्यक तत्त्व है। बिना इसके प्राणियों का एक क्षण भी जीना दूभर हो जाता है। जिस प्रकार औषधियाँ जल के माध्यम से शरीर में प्रविष्ट कराई जाती है उसी प्रकार वायु के द्वारा भी इनका प्रवेश सम्भव है।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त मंत्रों में वायु के इन गुणों की अनदेखी नहीं की गयी है। चिकित्सा ग्रन्थों में वायु की पाँच कोटियाँ निश्चित की गयी है, जिन्हें हमारे धर्म ग्रन्थों में पंचवायु की संज्ञा दी गयी है – "वायुस्तन्त्रयंत्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा" ।[5] सामवेदीय गृह्यसूत्रों में पंचवायु का कथन किया गया है।[6] यदि किसी कारण से पंचवायुओं में शैथिल्य आ गया हो तो

1. द्रा०गृ०सू० व खा०गृ०सू० – 3/1/19, गो०गृ०सू० पृ०सं० 624
2. गो०गृ०सू० पृ०सं० – 846
3. यजुर्वेद – 23/30
4. यजुर्वेद – 7/42
5. च०सं०सू० अ० 12
6. गो०गृ०सू० पृ०सं० – 325

सामवेदीय गृह्यसूत्रो में उनमे बलवृद्धि की कामना की गई है।[1] सामवेदीय गृह्यसूत्रों में पंचवायुओं में प्राण को सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहा गया है। प्राण को सभी रोगसमूहों में प्रविष्ट कहा गया है। प्राण से कामना की गई है कि शरीर से बुढ़ापा रोग व शरीर पीड़ा को दूर करे। इन्द्र से कामना की है कि वह प्राण को रोगमुक्त कर दे, जिससे वह शरीर से अकाल ही न निकल जाय।[2] वायु के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह शरीरस्थ दोषों को दूर करने वाला है।[3] वायु को कृशानु यानी हृदयस्थदेव रूप में वर्णित किया गया है।[4] वायु के इन्ही गुणों को देखकर एक मन्त्र में बार – बार उसके रक्षा की प्रार्थना की गयी है।[5]

आधुनिक काल में वायु चिकित्सा रूप में आक्सीजन मात्र का अल्प प्रयोग किया जा रहा है, अगर वायु चिकित्सा को बृहद् पैमाने पर अपनाया जाय तो सम्पूर्ण विश्व के स्वास्थ्य को सुधारा जा सकता है। ऋग्वेद का ऋषि इसी भावना से युक्त होकर एक मंत्र में कहता है –

"वात आवातु भेषजं शम्भुमयोभु नो हृदे।

प्राण आयूंसि तारिषत्।।"[6]

अर्थात् वायु औषधियों को भली भाँति ले आवे यह औषधियुक्त वायु हमारे भीतर प्रवेश करके कल्याण व सुख का सम्पादन करे ताकि शरीर में स्थित रोगों को नष्ट करता हुआ आयु की वृद्धि करे। विभिन्न प्रकार के वातगृह बनाकर विभिन्न प्रकार के रोगों की चिकित्सा इस काल के लिए अति उपयुक्त तथ्य है। देखिये बार – बार मन्त्रदृष्टा ऋषि द्वारा वायु की प्रार्थना करते हैं– "वायो व्रतपते।[7]" इस प्रकार सामवेदीय गृह्यसूत्रों में स्थित मंत्रों में वायु सर्वत्र ऋषियों द्वारा अभ्यर्हित है।

---

1. *"इयं दुरुक्तात्" – द्रा0तथा खा0गृ0सू0 2/4/20, जै0गृ0सू0 12/6-8, गो0गृ0सू0 2/10/33*
2. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0- 681*
3. *द्रा0गृ0सू0 तथा खा0गृ0सू0 1/4/12, गो0गृ0सू0 पृ0सं0 337*
4. *गो0गृ0सू0 पृ0 – 481*
5. *गो0गृ0सू0 पृ0 – 691*
6. *ऋ0वे0 – 10/187/1*
7. *गो0गृ0सू0 पृ0 – 473, खा0 व द्रा0गृ0सू0 – 2/4/7*

जल –

ऐसी लोकोक्ति है कि जल जीवन है, इससे यहाँ स्वयमेव स्पष्ट होता है कि जल की इस भौतिक जीवन में महत्वपूर्ण उपयोगिता है। जल स्वयम् एक औषधि है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में एक स्थल पर ऐसा उल्लेख है कि जल में अशान्त एवं रोगोत्पादक तत्त्व होते हैं, अतः उससे बचने की कामना की गई है – "यदपा घोरम्" ।[1] मुझे लगता है कि इस प्रकार की अवधारणा गन्दे अर्थात् अशुद्ध जल के प्रति है। समावर्तन संस्कार में एक प्रकरण में जल के भीतर वर्तमान आठ प्रकार की अग्नियों की अवधारणा है जो कि शरीर के लिए हानिकारक हैं – "ये अप्स्वन्तः"[2]। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि जल के भीतर यश तेज ब्रह्मचर्य, इन्द्रियपुष्टि, वीर्य अन्न व शारीरिक कान्ति आदि होते हैं, अतः इनके प्राप्ति की कामना की गयी है – "यशसेतेजसे।[3]" जल स्वयं एक औषधि है अतः उससे तेज उत्पन्न करने वाले तत्त्व को प्राप्त करने की कामना इस प्रकार की गयी है – "योरोचनः" ।[4]

जल में अमृतत्व की प्राप्ति होती है। जल खाये हुए पदार्थ को पचाता है, जिससे प्राण बल एवं आरोग्यता की प्राप्ति होती है, इन्ही तथ्यों की पुष्टि सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी होती है – "अमृतोपस्तरणमसि" तथा "अमृतपिधानमसि" ।[5] इस मंत्र में कहा गया है कि जल ही अन्न की शैया, अन्न का आवरक तथा अन्न का आच्छादक है। यह लोक प्रचलित है गर्म जल शुद्ध होता है, अर्थात् जल को गर्म करने से उसके जीवाणु विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार गर्म जल रोगशून्य व कल्याणकारी होता है। गर्म जल के इसी वैशिष्ट्य को देखकर चूड़ाकरण संस्कार में विनियुक्त एक मन्त्र में गर्म जल से शिर भिगोने व इससे प्राप्त जीवनी शक्ति का उल्लेख किया गया है – "उष्णेन वाय"[6] तथा "आप उन्दन्तु" ।[7]

---

1. *द्रा०गृ०सू० तथा खा०गृ०सू० 2/4/7*
2. *द्रा०गृ०सू० तथा खा०गृ०सू० 3/1/11, गो०गृ०सू० पृ० 621*
3. *गो०गृ०सू० पृ०सं० - 622*
4. *गो०गृ०सू० पृ०सं० - 622, द्रा० तथा ख०गृ०सू० 3/1/12*
5. *गो०गृ०सू० पृ०सं० - 483*
6. *जै०गृ०सू० 9/4, द्रा० व खा०गृ०सू० - 2/3/21 तथा गो०गृ०सू० पृ०सं० - 436*
7. *जै०गृ०सू० 9/6, द्रा० व खा०गृ०सू० - 2/3/22 तथा गो०गृ०सू० पृ०सं० - 436*

सामवेदीय गृह्यसूत्रों के अतिरिक्त अन्यत्र भी जलों के महत्व की अनदेखी नहीं की गई है। रोग निवारक शक्ति के कारण ही जलों को मातां की संज्ञा दी गई है – "आपोअस्मान्मातरः"[1] अर्थात् जैसे माता पुत्र की सर्वविध रक्षा करती है, वैसे ही जल हमारी रक्षा सभी प्रकार से करते हैं। इस तरह अनेक स्थलों पर जलों की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

इन स्थलों के अवलोकनोपरान्त यही कहा जा सकता है कि शुद्ध औषधिस्वरूप जलों से ही जीवन में आरोग्य एवं सुख की प्राप्ति हो सकती है, जिसका पूर्णरूपेण वर्णन सामवेदीय गृह्यसूत्रों में है।

अकालमृत्यु निवारण –

इस संसार में आने पर मृत्यु तो सबकी होनी है, लेकिन अकालमृत्यु न हो, सभी रोग रहित हों, ऐसी अवधारणाएं सामवेदीय गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त मंत्रों में पर्याप्त रूपेण प्राप्त होती हैं, जिनको इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है –

विवाह संस्कार में प्रयुक्त एक मंत्र में ऋषि मृत्युबन्धन से मुक्ति की भावना से भावित है – "अग्निरेतु"।[2] ध्यान रहे कि मृत्यु बन्धन से मुक्ति का तात्पर्य है अकालमृत्यु मुक्ति। इसी संस्कार में प्रयुक्त एक मंत्र में मृत्युविनिर्मुक्ति एवं इन्द्रियों के स्वप्राक्रूप में स्थित रहने की कामना की गयी है – "परैतु मृत्युः"।[3] निष्क्रमण संस्कार में प्रयुक्त एक मंत्र में ऋषि बालक के दीर्घजीवन की कामना करता है – "कोऽसि"।[4] उपनयन संस्कार में एक अवसर पर प्रयुक्त एक मंत्र में ऋषि नाभि को प्राणों की ग्रन्थि मानकर यमराज से माणक के मरण, रोग तथा जरा से मुक्ति की कामना करता है – "प्राणानां ग्रन्थिरसि"।[5] मृत्युबन्धन से मुक्ति के ही सम्बन्ध में आश्वयुजी कर्म में प्रयुक्त एक मंत्र में रुद्र से आयु के सुरक्षा की कामना की गई है – "मानस्तोके"।[6]

---

1. यजुर्वेद 4/2
2. जै0गृ0सू0 19/15, द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 1/3/11 तथा गो0गृ0सू0 पृ0सं0–293
3. द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 1/3/11 तथा गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 294
4. जै0गृ0सू0 7/16, द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 2/3/19 तथा गो0गृ0सू0 2/8/13
5. जै0गृ0सू0 11/13, द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 2/4/15 तथा गो0गृ0सू0 2/10/24
6. द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 3/3/2 तथा गो0गृ0सू0 3/8/2

इन वर्णनों से यही तथ्य खुलकर सामने आता है कि सामवेदीय गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त मंत्रों में विश्वकल्याण की भावना है। "सर्वे सन्तु निरामयाः" का वैदिक उद्घोष यहाँ भी निर्बाध रूप में प्राप्त होता है।

हृदयघात निवारण तथा शोधन –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त मंत्रों में व्यक्ति के सर्वतोभावेन कल्याण की कामना विदित है। वैदिक काल का ऋषि छोटे – छोटे एवं बड़े से बड़े तथ्यों पर अपनी बुद्धि दौड़ायी है। हृदय व्यक्ति का कोमल एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। शरीर के संचालन में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त मंत्रों में ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि रूदन करना हानिकर कार्य है। हृदयघात की स्थिति से मुक्त रहने के लिए रोने का निषेध किया गया है। विवाह प्रसंग में इस तथ्य से युक्त होकर ऋषि का कथन है – "मा ते गृहेषु"।[1] इसी संस्कार में हृदय शोधन का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में ऋषि कहता है कि हे वधु तुम दोनो के हृदय को विश्वेदेव संशोधित करें, अर्थात् उसमें किसी भी प्रकार का विकार न हो, जल, वायु, प्रजापति व उपदेशक देवता हृदय को एकीकृत करें – "समभ्जन्तु"।[2] इन वर्णनों से यह स्वयमेव स्पष्ट होता है ये मंत्र विश्वकल्याण की भावना से युक्त हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए परमावश्यक हैं।

वन्ध्यात्वमुक्ति एवं सुख प्रसव –

स्त्रियाँ सन्तानोत्पादनार्थ अधिष्ठातृ देवियाँ हैं। बन्ध्या होना स्त्रियों के लिए महान अभिशाप है। बन्ध्यामुक्ति के लिए ही आधुनिक चिकित्साविज्ञान में गर्भ शोधन जैसी क्रियाएं हैं। इस क्षेत्र में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी पर्याप्त सामग्रियॉ उपलब्ध होती हैं। बन्ध्यात्व निराकणार्थ विवाह संस्कार में प्रयुक्त एक मंत्र में कामना की गई है – "अप्रजस्यम्"।[3]

प्रसव पीड़ा महान कष्टकारी होती है। वैसे तो इस पीड़ा का होना परमावश्यक है, क्योंकि बिना इस पीड़ा के बच्चे का जन्म होता नहीं, लेकिन जब पीड़ा सीमा का उल्लंघन करे तो

---

1. जै०गृ०सू० 20/10, द्रा० व खा०गृ०सू० – 1/3/11 तथा गो०गृ०सू० पृ०सं०–294
2. द्रा० व खा०गृ०सू० – 1/3/30 तथा गो०गृ०सू० पृ०सं० –305
3. जै०गृ०सू० 20/16, द्रा० व खा०गृ०सू० – 1/3/11 तथा गो०गृ०सू० पृ०सं०–294

इसके लिए सोष्यन्ती होम प्रकरण में प्रयुक्त मंत्र में पीड़ाविनिर्मुक्ति की भावना भावित है – "या तिरश्ची"।[1] उपनयन प्रसंग में सविता देव को प्रसवकार्य के लिए सर्वविधनिर्वहनकर्त्ता के रूप में एक मंत्र में माना गया है।[2]

इस तरह से यह स्वयमेव स्पष्ट है कि सम्पूर्ण सृष्टि की जननी स्त्रियों के प्रति भी सामवेदीय गृह्यसूत्र अपनी सौम्य भावना से युक्त हैं। स्त्रियॉ बन्ध्यात्त्व जैसे अभिशाप से मुक्त रहें तथा प्रसव में किसी प्रकार की कठिनाई न आये यही सभी गृह्यसूत्रों की शुभकामनाएं हैं।

अश्विन् –

आद्यवैदिक काल से अश्विन् युगल देवों के भिषक् रूप में वर्णित हैं, वही अवधारणा सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी विद्यमान है। वैदिक संहिताओं में अश्विनों के ऐसे कार्यों का उल्लेख पाया जाता है जो आधुनिक चिकित्सा जगत् में भी विस्मय उत्पन्न कर देने वाला है।

समावर्तन संस्कार में प्रयुक्त एक मंत्र में अश्विनों एवं उनके सामर्थ्य को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है – "येन स्त्रियम्"[3] अर्थात् अश्विनों ने अपनी सामर्थि से स्त्रीजाति को भोग्यत्व रूप में स्थापित किया, अपुष्पा नामक स्त्री की हिंसा की, जलों को सुरारूप में भोग्यत्व प्रदान किया, इस विशाल पृथ्वी को सिंचित किया, ऐसे गुणों से युक्त हे अश्विनों आप दोनों हम लोगों को अभिषिक्त करें। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में ऐसे गुणों से युक्त अश्विनों का अवलोकन कर उनकी उपासना की गई है तथा उनके रूप की कामना की गई है – "भूर्भुवः स्वरोम्"।[4]

गुणकारिणी औषधियाँ –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में वर्णित गृह्यकर्मों में विनियुक्त मंत्रों में व्रीहि, शालि, मुद्ग, गोधूम, सर्षप, तिल तथा यव इन सातों को औषधि की संज्ञा प्रदान की गई है यथा –

"व्रीहयः शालयो मुद्गा गोधूमाः सर्षपास्तिलाः।
यवाश्चौषधयः सप्त विपदो घ्नन्ति धारिताः।।"[5]

---

1. *जै०गृ०सू० 20/7, द्रा० व खा०गृ०सू० – 2/2/30 तथा गो०गृ०सू० पृ०सं० –394*
2. *गो०गृ०सू० पृ०सं० – 482*
3. *द्रा० व खा०गृ०सू० – 3/1/15 तथा गो०गृ०सू० 3/7/17*
4. *गो०गृ०सू० – 4/8/1*
5. *गो०गृ०सू० पृ०सं० – 253*

इन औषधियों के विषय में कहा गया है कि इनके धारण करने से विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। समावर्तन संस्कार प्रकरण में एक ऐसा मंत्र विनियुक्त है जिसमें औषधियों में सर्वश्रेष्ठ सोम का वर्णन किया गया है।[1] वैदिक मंत्रों में बहुधा वर्णित सोम के गुणों को ही देखकर इस गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मंत्रों में अनेक अन्य स्थलों पर भी सोम की प्रार्थना की गई है।[2]

चूड़ाकरण संस्कार में विनिमुक्त एक मंत्र में कुशापिजुंली को औषधि कहा गया है, जिसके द्वारा बालक के रक्षा की कामना की गई है।[3] गोभिल गृह्यसूत्र में एक मंत्र में औदुम्बर को भी औषधिं की संज्ञा प्रदान की गई है।[4]

पुसंवन संस्कार में वटवृक्ष के शुंग के रस को गर्भिणी के नासिका में डालने का प्राविधान है। वट वृक्ष के शुंग को इसी प्रकरण में एक मंत्र में औषधि की संज्ञा प्रदान की गई है।[5] इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि गर्भ को विशिष्ट शक्ति से युक्त करते हुए पुरूष सन्तान ही उत्पन्न करे।[6]

गर्भाधान प्रकरण में विनियुक्त मंत्रों में ऐसा उल्लेख है जिसमें कन्या के उपस्थ रूपी अग्नि में पति के घृत रूपी शुक्र की चर्चा है।[7] इसी प्रकरण में विष्णु से योनि को गर्भ ग्रहण करने योग्य बनाने की प्रार्थना, प्रजापति से गर्भ – पोषण की प्रार्थनाएं की गई हैं।[8]

मूर्धाभिघ्राण प्रकरण में विनियुक्त एक मंत्र में ऐसा उल्लेख प्राप्त है जिसमें पिता के सम्पूर्ण अंगो से युक्त पुत्र को बतलाया गया है, वास्तव में गर्भाधान काल में पिता के वीर्य में उसके सम्पूर्ण अंगों का योग होता है, इसी भावना से भावित है यह मंत्र "अंगादंगात्"।[9]

---

1. *'चक्षुरसि' – द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 3/1/9 तथा गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 624*
2. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 667,747, 885*
3. *'ओषधेत्रायस्वैनम्' – द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 2/3/24, गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 437*
4. *'कौतोमेतम्' – गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 800*
5. *'ओषधयो सुमनसो' – द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 2/2/20 गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 374*
6. *द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 2/2/19 तथा गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 372*
7. *'अग्निं कव्याद्' – गो0गृ0सू0 पृ0सं0 284*
8. *'विष्णुर्योनिम्' – जै0गृ0सू0 23/18, द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 1/4/15 गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 361*
9. *द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 2/3/13 तथा गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 428*

दिवाशयन निषेध –

आयुर्वेदशास्त्र दिवाशयन का निषेध करते हैं इस सन्दर्भ में चरक-संहिता का अभिमत इस प्रकार है – सामान्यतया दिवाशयन निषिद्ध है लेकिन कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ऐसा निषेध नही है, यथा जो व्यक्ति गीत, अध्ययन, मदिरापान, मैथुन, संशोधनकर्ता, भार ढ़ोना, रास्ता चलना आदि कर्म से क्षीण हो गयें हों, अजीर्ण के रोगी, उर क्षत के रोगी, तथा जिनका शरीर धातु क्षय से क्षीण हो गया हो, वृद्ध, बालक, स्त्री एवं प्यास अतिसार व शूल रोग से पीड़ित, दमा के रोगी, हिचकी के रोगी, कृश व्यक्ति, ऊँचे स्थान से गिरे हुए व्यक्ति, अभिहत, पागल, सवारी पर चढ़ने से अथवा रात्रिजागरण से थके हुए, क्रोध, शोक व भय से पीड़ित, जिन्हें दिन में सोने का अभ्यास पड़ गया हो, ऐसे व्यक्ति सभी ऋतुओं में दिन में शयन कर सकते है।[1] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि स्वस्थ्य व्यक्ति के लिए दिन में सोना निषिद्ध है, इसी भावना से भावित एक मंत्र में ऋषि कहता है – "दिवा मा स्वाप्सीः"[2] इस तरह यह स्वयमेव स्पष्ट है कि सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विदित गृह्यकर्मों में विनियुक्त मंत्रों में ऋषि का यह दृष्टिकोण नितान्त वैज्ञानिक है।

विष विनाश –

विष विनाश सम्बन्धी मंत्रो का भी विनियोग सामवेदीय गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होते है। सर्प के द्वारा डसे जाने पर जिस को प्रयुक्त किये जाने का प्राविधान है उसका भाव यह है कि तुम भयभीत न होवो, क्योकि तुम मृत्यु को नही प्राप्त होगे, लेकिन वृद्धावस्था तक तुझमें विष आशिंक रूप से व्याप्त रहेगा। विषधर के तत्त्व को तुम प्राप्त नही करोगे, तात्पर्य है कि तुझ पर विष प्रभावी नही होगा। विष के प्रभाव से तुम्हारे मुख में झाग उत्पन्न नही होगी – "मा भैषीः"।[3] इसी प्रकरण में सर्पों से स्वयं के बचाव के लिए ऋषि सर्पों की प्रार्थना करता है।[4] इससे यही स्पष्ट होता है कि ऋषि 'सर्वजन हिताय व सर्वजनसुखाय' की भावना से भावित हैं।

---

1. च0सं0सू0अ0 – 21
2. जै0गृ0सू0 11/20, द्रा0 व खा0गृ0सू0 – 2/4/19 तथा गो0गृ0सू0 पृ0सं0–483
3. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 866
4. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 868

बल संचयन -

प्रत्येक कार्य के सम्पादनार्थ बल की आवश्यकता होती है, इसी भावना से युक्त होकर ऋषि बल प्राप्त की कई स्थलो पर कामना की है। विवाह प्रकरण में सप्तपदी के अवसर पर प्रयुक्त एक मंत्र में बल प्राप्ति का उल्लेख प्राप्त होता है "द्वे उर्जे विष्णुस्त्वानयतु"[1]।

रोगोत्पादक कीटाणु -

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में वर्णित गृह्यकर्मों में विनियुक्त मंत्रों के दृष्टा ऋषियों की दृष्टि रोगोत्पादक कीटाणुओं के तरफ भी गई। इस प्रकार के कीटाणुओं की श्रेणियाँ तथा उनके विनाश के लिए मंत्रों में कामना की गई है। इस सन्दर्भ में ऋषि का कथन है कि ऐसे कीटाणु अनेक प्रकार के होते हैं जैसे – तिरछा चलने वाले, आँतों में संचरण करने वाले, दो शिरों वाले, सफेद रंग वाले, क्षुद्रक, नीलमक्षिका आदि। ऋषि इन कीटाणुओं को विनष्ट करने के लिए अत्रि, गौतमादि ऋषियों तथा इन्द्रादि देवताओं से प्रार्थना करता है। ऋषि का कथन है कि कीटाणुओं के साथ ही साथ घाव भी पूर्ण हो जाय। मंत्र जप के माध्यम से छोटे व बड़े कीटाणुओं के विनाश का प्राविधान किया गया है। कीटाणुओं के सवंश नाश की भी कामना इसी प्रकरण में है। इन अनेक भावनाओं से युक्त अनेक मंत्र इस प्रकार है – "हतस्ते" "भरद्वाजस्य" "हतः क्रिमीणाम्","क्रिमिमिन्द्रस्य" ।[2] अत्यन्त प्राचीन काल में भी ऋषियों की इस प्रकार की वैज्ञानिक भावना पर हम भारतीयों को गर्व होना चाहिए, इन्हीं कथनों को आधार मानकर आज का चिकित्सा जगत अपने ज्ञान भण्डार में आशातीत समृद्धि कर सकता है।

सन्धान कार्य -

सामवेदीय गृह्यसूत्रों मे विनियुक्त मंत्रों में सन्धान कार्य जो प्रारूप देखने को मिलता है, उसे देखकर आजकल का सन्धान कार्य फीका दिखने लगता है। भर्तृकुल को वधू द्वारा गमन करने के अवसर पर रथ के अक्ष के भंग होने पर किये जाने वाले होम में जिस मंत्र का विनियोग किया गया है, वह सन्धान कार्य का सुन्दर नमूना है। इसमें इन्द्र को एक सफल सर्जन के रूप

---

1. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 303
2. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 868 – 869

में वर्णित किया गया है। इस मंत्र का भाव है कि जो इन्द्र सन्धान द्रव्य बिना भी ग्रीवा से रक्त बहने के पूर्व ही सन्धानित कर देता है वह धनवान इन्द्र इस टूटे हुए रथ अक्ष को पुनः सन्धानित करे – "य ऋते"।[1] इस प्रकार का सन्धान कार्य आज की इस विकसित चिकित्सा प्रणाली के लिए अनुकरणीय है। ऐसे वर्णन को देखकर यही स्पष्ट होता है कि तत्कालीन चिकित्सा व्यवस्था आज से कई गुनी समृद्ध थी।

मधु –

उपयोगिता की दृष्टि से मधु का कोई विकल्प नही। वेदों व आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मधु प्रशंसित है। देखें, चरक संहिता में मधु के विषय में कहा गया है –

"वातलं गुरुशीतं च रक्तपित्तकफापहम्।

सन्धातृच्छेदनं रूक्षं कषायं मधुरं मधुः।।"[2]

मधु वातकारक, गुरू, वीर्य में शीतल रक्त पित्त एवं कफनाशक है। सन्धान करने वाला छेदन, रूक्ष कषाय एवं मधुर होता है। मधु की इन्हीं विशेषताओं को देखकर सामवेदीय गृह्यसूत्रों के गृह्यकर्मों में विनियुक्त मंत्रों में भी मधु की भूरि – भूरि प्रशंसा की गई है – "यशसो भक्षोऽसि"[3]। इसका तात्पर्य है – हे मधु तुम मुझे यश, तेज, एवं श्री प्रदान करो, यतोहि तुम इन सबके आश्रय हो।

विभिन्न व्याधियों से मुक्ति –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों के गृह्यकर्मों में विनियुक्त अनेक मंत्रों में शरीर से विभिन्न रोगों के दूर करने के तथ्य विद्यमान है। उपनयन संस्कार के एक प्रसंग में यकृत के अधिष्ठातृदेव के रूप में प्रजापति का उल्लेख किया गया है।[4]

---

1. *गो०गृ०सू० पृ०सं० – 330*
2. *च०सं०सू०अ० – 27/245*
3. *द्रा० व खा०गृ०सू० – 4/4/18 तथा गो०गृ०सू० पृ०सं० – 889*
4. *गो०गृ०सू० पृ०सं० – 482*

विवाह प्रसंग में प्रयुक्त एक मंत्र में वधु के विभिन्न अंगों के विशुद्धीकरण का प्राविधान है, तात्पर्य यह है बधु के सभी अंग स्वस्थ्य होवें – "लेखासन्धिषु, केशेषु, शीलेषु, आरोकेषु, ऊर्वोरूपस्थे यानि कानि च"[1] अर्थात् हे वधु तुम्हे शिर, हाँथ आदि रेखासन्धियों में नेत्र विधानों में आवर्त में जो कुछ कमियॉ हैं, उन्हें इस पूर्णाहुति के द्वारा दूर करता हूँ। तुम्हारे बालों में तुम्हारी निगाहों में, अश्रुविमोचन में जो कुलक्षण हों उन्हें दूर करता हूँ। तुम्हारे व्यवहार, तुम्हारे कथन, हसने व गमन करने में जो कुछ कुलक्षण हैं उन्हें दूर करता हूँ। तुम्हारे दाँतों के बीच में, अधरोष्ठ में, दाँतों में, हाँथों में, पैरो में तथा गुल्मों में जो कुछ अशुभ चिन्ह हैं, उन्हें दूर करता हूँ। तुम्हारी जानु के ऊर्ध्वस्थ भागों में, प्रजनेन्द्रिय में, जंघाओं में मुख में तथा शरीर सन्धियों में जो कुछ कुलक्षण हैं, उन्हें दूर करता हूँ। तुम्हारे सभी अंगों में जो – जो कुलक्षण हैं, उन्हें मैं पूर्णाहुति के द्वारा दूर करता हूँ। इस वर्णन से यही तथ्य स्पष्ट होता है कि ऋषि की यही भावना होनी चाहिए कि हर अंगों से स्वस्थ्य स्त्री ही स्वस्थ्य सन्तान उत्पन्न कर सकती है, जिससे देश का कल्याण सम्भव है।

अनकाममार मंत्र में पापरोगों के अभिचार के भय के अभाव को स्पष्ट करते हुए ऋषि का कथन है कि "मूर्धोऽधि, ग्रीवाभ्यः, बाहुभ्याम्, बङ्क्षणाभ्यो, जंघाभ्याम्, परिबाधम्"[2] अर्थात् शिर, कान व मूर्धा में प्रविष्ट मध्यदेश तथा ललाट में प्रविष्ट, पीड़ा देने वाली कठिन व्याधियों को मैं विनष्ट करता हूँ। ग्रीवा, स्कन्ध, नासिका, तथा मुख में प्रविष्ट व्याधियों का निरसन करता हूँ। बाहु दोनो बगल, उरः स्थान में प्रविष्ट व्याधियों को विनष्ट करता हूँ। उरूसन्धि, जंघा, पार्ष्णि स्थानों के रक्त भक्षक तथा पीड़ाकारी व्याधियों को विनष्ट करता हूँ। इन वर्णनों से यही स्पष्ट होता है कि मंत्रों में सम्पूर्ण शरीर को स्वस्थ्य रखने की भावना भावित है जो अनेक स्थलों पर प्रकट की गई है।

दुःस्वप्न –

हमारे धर्मग्रन्थों में स्वप्नों को बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है, जो नितान्त कपोल कल्पित नही है, क्योंकि आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भी स्वप्न की महत्ता वर्णित है।[3] इसमें स्वप्नों के

---

1. *जै0गृ0सू0 20/17, गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 310*
2. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 809, 810, 811*
3. *च0सं0इ0अ0 – 5*

आधार पर रोगों की साध्यता अथवा असाध्यता वर्णित है। अनिष्टकारी स्वप्नों के प्रभाव को विनष्ट करने के लिए सामवेदीय गृह्यसूत्रों में वर्णित गृह्यकर्मों में विनिमुक्त मंत्रों में प्राविधान किये गये हैं। प्रायश्चितों के वर्णन के प्रसंग में अनिष्टकारी स्वप्नों के विनाश करने की भावना से भावित एक मंत्र देखिये –

"अद्य नो देवः सवितः प्रजावत् सावीः।
सौभगं परा दुःस्वप्न्यं सुव।।"[1]

इस मंत्र का अर्थ है कि हे सविता, हम लोगों के लिए इस यज्ञ के दिन पुत्रादि से युक्त धन को प्रदान कीजिए तथा अनिष्टकारी स्वप्नों को दूर कीजिए। इस प्रकार यह तथ्य स्वयमेव स्पष्ट है कि इन गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मंत्रों में व्यक्ति के कल्याण की कामना हर दृष्टिकोण से की गई है, भले ही वह सूक्ष्म विषय स्वप्न ही क्यों न हो। 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' की भावना गृह्यसूत्रों में हर स्थान पर दृष्टिगत होती है।

गोकल्याण भावना –

आयुर्वेद का लक्ष्य है कि सभी प्राणी रोगरहित होकर स्वस्थ्य जीवन व्यतीत करें तभी तो वह आयुः वेद, अर्थात् स्वस्थ्य जीवन का ज्ञान है। इन गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मंत्रों में भी यही भावना प्रदर्शित होती है। मंत्रों में मनुष्यों के लिए विविध कामनायें तो हैं ही पशुओं के भी कल्याणार्थ भावनायें है। गोपुष्टि प्रसंग में प्रयुक्त एक मंत्र को देखिये –

"इमा मधुमतीर्मह्यमनष्टाः पयसा सह।
गावः आज्यस्य मातरः इहेमाः सन्तु भूयसीः।।"[2]

इस मंत्र का तात्पर्य है, हे चारक, रोगरहित, प्रशस्य, प्रभूतदुग्ध प्रदान करने वाली इन गायों को दुग्ध के साथ मुझे समर्पित करें। प्रभूत यें गायें मेरे घर में घृत की उत्पादिका होवें। यज्ञयागादिकाल में घृत का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस कारण यह भावना परिलक्षित होती है। बद्धगोमुक्ति प्रकरण, पशुकामकर्मादि प्रकरणों में इसी भावना से युक्त अनेक मंत्रों का विनियोग किया गया है।

---

1. गो०गृ०सू० पृ०सं० – 593
2. गो०गृ०सू० पृ०सं० – 648

रसायन –

रसायन राज है सोम। सम्पूर्ण वैदिक वाङमय सोम की प्रशंसा से भरा पड़ा है ऋग्वेद का नवम् मण्डल 'पवसान मण्डल' के नाम से ही विख्यात है। सोम को औषधिराज की संज्ञा प्रदान की गई है। इन्द्र सर्वाधिक सोमपायी माना गया है। इसी सोमपान के कारण इन्द्र हमेशा नवीन रूप में रहता है। वलिपलितादि विकारों से सर्वदा मुक्त रहता है। संहिताओं में वर्णित इसी भावना से भावित हैं सामवेदीय गृह्यसूत्र। महानाम्निक व्रत के प्रकरण में एक मंत्र में ऋषि का कथन है – "पूर्वस्य .... सन्न्यसे।।"[1] इस मंत्र का तात्पर्य इस प्रकार है – हे पर्वतवत्, सुदृढ़ इन्द्र, आपके पास जो प्राचीन धन है उसे हम यज्ञ कर्त्ताओं को प्रदान कीजिए। हे इन्द्र, यह जो सोमलताखण्ड है, उससे उत्पन्न रस स्वतः भवदीय यथार्थ हैं। यज्ञ में मुझ यज्ञकर्त्ताओं द्वारा प्रदान किये गये ये सोमादि आपके लिए मदकारक हैं इसलिए हम लोगों के लिए धन धान्य व समृद्धि प्रदान कीजिए। हे सर्वाधिक बल से युक्त इन्द्र, आप निश्चय ही महान बल को धारित करने वाले है एवं वलीपलितादि विकारों से रहित हैं। हम यज्ञकर्ता आपको हविभोक्ता रूप में स्थापित करते हैं।

मंत्रों के अन्य व्यवहारोपयोगी महत्व –

सर्वजन हित की भावना से मंत्रो का सर्वाधिक व्यवहारोपयोगी महत्व है औषधियों की शक्ति में वृद्धि करना, क्योंकि औषधियाँ ही व्यक्ति को स्वस्थ्य जीवन प्रदान करती हैं। हमारे विद्वान पूर्वजों ने औषधियों के गुण दोषों को भली भाँति परखकर उन्हें रोगो के विरूद्ध प्रयुक्त किया। वे मात्र औषधियों को खिलाने में ही विश्वास नही रखते थे। वे औषधियों की शक्तिवर्द्धक करने के लिए उन्हें प्रयोग में लाने के पूर्व मंत्रों द्वार अभिमंन्त्रित करते थे। आधुनिक युग में इस विद्या का प्रायः आभाव पाया जाता है। यदि हम सामान्य दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है कि औषधियों के प्रयोग द्वारा ही रोगोपशन होता है, लेकिन यदि हम सूक्ष्मावलोकन करें तो यह स्पष्ट होता है कि हमारे पूर्वजों का यह सिद्धान्त तथ्यहीन नहीं है। इस सिद्धान्त के मूल में यह तथ्य है कि हम भौतिक वस्तुओं के साथ देवतत्व को स्वीकार करते हैं। औषधियों को देवताओं ने ही निर्मित किया। देव प्राण ही औषधियों के गुणों का आधान करते हैं। व्यक्ति का शरीर रोगग्रस्त तभी होता है, जब

---

1. *गो०गृ०सू० पृ०सं० – 531*

उसमें देवतत्त्व हीन होता है, अतः शरीरस्थ देवप्राण की हीनता की आपूर्ति औषधिस्थ देवप्राण के द्वारा करते हैं, जिससे रोगोपशमन होता है। जब हम मन्त्रोच्चारण के साथ औषधियों का प्रयोग करते है, तो उसकी गुणवत्ता में वृद्धि हो जाती है। मंत्र की शक्ति के माध्यम से उस देवता के साथ मन व प्राण को संयुक्त कराया जाता है, क्योंकि मंत्र का प्रयोग करते समय उसमें मन व प्राण का सहयोग होता है। जब हम औषधियों को सम्बोधित करते हैं तो औषधिस्थ देवता का संबोधन स्वयमेव हो जाता है, इससे औषधि की शक्ति स्वयमेव बढ़ जाती है। इसी तथ्य के आधार पर कही – कही ऐसा देखा जाता है कि बिना औषधियों का प्रयोग किए केवल मंत्र के माध्यम से चिकित्सा की जाती है जिसे 'मंत्र चिकित्सा' के नाम से जाना जाता है। इस चिकित्सा में मानव के भीतर क्षीणत्व को प्राप्त हुए प्राणदेव को उद्बोधित कर उनको मंत्र के माध्यम से बलशाली बनाया जाता है, जिससे शरीर में रोगों से लड़ने की क्षमता विकसित होती है। ऐसी स्थिति में रोगोपशमन स्वयमेव होने लगता है।

चतुर्थ अध्याय

संस्कारों की समीक्षा

संस्कारों की समीक्षा

सम् उपसर्गपूर्वक कृञ् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर संस्कार शब्द व्युत्पन्न हुआ है, इस तरह इसका अर्थ हुआ परिमार्जन। अत्रिदेव गुप्त ने इसका अर्थ 'नया रूप देना' किया है।[1] संस्कार शब्द का अधिक उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी का 'सेक्रामेण्ट' शब्द है, जिसका अर्थ है धार्मिक विधि विधान अथवा कृत्य जो आन्तरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है, और जिसका व्यवहार प्राच्य, प्राक्सुधार कालीन पाश्चात्य तथा रोमन कैथालिक चर्च बपतिस्मा, सम्पुष्टि (कन्फर्मेशन) पूरवारिश्त, व्रत (पीनान्स), अभ्यंजन (एकस्ट्रीमअंक्शन), आदेश तथा विवाह के सात कृत्यों के लिए करते थे। किसी वचन अथवा प्रतिमा की पुष्टि रहस्यमयपूर्ण महत्व की वस्तु पवित्रप्रभाव तथा प्रतीक भी सेक्रामेण्ट शब्द का अर्थ है।"[2] चरक संहिता में गुण के प्रतिस्थापना को ही संस्कार कहा गया है – "संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।"[3] चरक संहिता में ही संस्कार के पर्याय रूप में करण शब्द उल्लिखित है।[4]

विभिन्न विचारों की दृष्टि में संस्कार के विभिन्नार्थ किये गये है जैसे – मीमांसक यज्ञ के अंगभूत तत्वों के विशुद्धि करण को ही संस्कार मानते हैं।[5] अद्वैतवेदान्त मतावलम्बियों के लिए जीव पर शारीरिक क्रियाओं के मिथ्यारोप ही संस्कार हैं।[6] नैयायिको के लिए भावभिव्यक्ति में सक्षम आत्मशक्ति ही संस्कार है।[7] संस्कृत साहित्य में भी यह शब्द अनेकानेक बार प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण[8] सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि[9] संस्करण,

---

1. *सं०वि०वि० अत्रिदेव गुप्त, पृ०सं० – 7*
2. *हि०सं० – डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ०सं० – 17*
3. *च०सं०वि०स्था०, अ०1*
4. *'करूणं हि नाम स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः' च०सं०वि०स्था०, अ०1*
5. *'प्रोक्षणादि जन्मसंस्कारो यज्ञांगपुरोडाशेष्विति द्रव्यधर्मः' हि०सं०– डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ०सं० – 18*
6. *'स्नानाचमनादिजन्याः संस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदाभिधानानि जीव कल्प्यन्ते। – वही।*
7. *हि०सं० – डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ०सं० 18*
8. *'निसर्गसंस्कारविनीतइत्यसौनृपेणचक्रे युवराजशब्दभाक्' रघुवंशम् 3/35*
9. *'संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तयासशतश्च विभूषितश्च' कुमारसम्भवम्, 1/28*

परिष्करण[1], शोभा, आभूषण[2], प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया छाप[3], स्मरण शक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव[4], शुद्धि क्रिया, धार्मिक विधि विधान[5], अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्यपरिणाम क्रिया की विशेषता[6] आदि अर्थों में किया गया है।

'इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि संस्कार शब्द के साथ विलक्षण अर्थों का योग हो गया है, जो इसके दीर्घ इतिहास क्रम में इसके साथ संयुक्त हो गये हैं। इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति की दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सकें। किन्तु हिन्दू संस्कारों में अनेक धार्मिक विचार, धार्मिक विधि विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार ही न होकर संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार शुद्धि और पूर्णता भी है। साधारणतः यह समझा जाता था कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। संस्कार शब्द का प्रयोग इस सामूहिक अर्थ में होता था।[7]

हिन्दू संस्कारों के वर्णन सूक्तों से ही उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। सर्वाधिक विशद वर्णन गृह्यसूत्रों में ही हैं। धर्मसूत्रों व स्मृतियों में भी पर्याप्तरूपेण वर्णन उपलब्ध होते है। डॉ0 राजकिशोर ने इस सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है कि — "हिन्दू संस्कारों के वर्णन वेदों के कुछ सूक्तों में कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थों में गृह्य व धर्म सूत्रों में तथा स्मृतियों में उपलब्ध होते हैं। वैदिक संहिता में यद्यपि कही भी संस्कार शब्द का प्रयोग नही मिलता किन्तु विभिन्न स्थलों पर उपनयन अन्त्येष्टि आदि कतिपय संस्कारों के अंगों का वर्णन अवश्य प्राप्त होते हैं।"[8] विविध गृह्यसूत्रों में संस्कारों की संख्या भी विविध वर्णित है।

---

1. *'प्रत्युक्तसंस्कार इवाधिकं वभौ' – रघुवंशम् 3/18*
2. *यत्तेदृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम्' – अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 7/23*
3. *'यन्नवे भाजेन लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्' – हितोपदेश 1/8*
4. *'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' – तर्कसंग्रह*
5. *'कार्य शरीर संस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च' – म0स्मृ0 – 2/26*
6. *'फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव' – रघुवंशम् 1/20*
7. *हि0सं0;, डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ0सं0 19*
8. *प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति (प्रारम्भ से गुप्त युग पर्यन्त), डॉ0राजकिशोर सिंह एवं डॉ0(श्रीमती) ऊषा यादव, पृ0सं0 – 268 – 269*

आश्वलायन गृह्यसूत्र में ग्यारह, पारस्कर, बौधायन एवं बाराह गृह्यसूत्रों में तेरह, वैखानस गृह्यसूत्र में अट्ठारह संस्कारों के वर्णन प्राप्त होते हैं। इन सबसे हटकर सामवेदीय गृह्यसूत्रों में गोभिल गृह्यसूत्र, खादिर गृह्यसूत्र तथा द्राह्यायण गृह्यसूत्र में दस संस्कारों के ही वर्णन प्राप्त होते हैं। प्रायः सभी गृह्यसूत्र विवाह से ही संस्कारों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं, लेकिन जैमिनि गृह्यसूत्र में सर्वप्रथम पुंसवन संस्कार का वर्णन किया गया है। इस गृह्यसूत्र में गर्भाधान का तो वर्णन ही नहीं किया गया है।

पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण करने वाले लोगों से युक्त आज के इस युग में संस्कारों का महत्त्व नगण्य होता चला जा रहा है। सर्वप्रथम वे परिस्थितियाँ जिनमें उनका प्रादुर्भाव हुआ, युगों के गर्भ में जा छिपी हैं, और उनके चारो ओर लोक प्रचलित अन्धविश्वासों का जाल सा बिछ गया है। अतः उनसे सुदूर वर्तमान में समस्या पर दृष्टिपात करने के लिए तथ्यों के गम्भीर ज्ञान से संयुक्त सुनियोजित कल्पना अपेक्षित है। दूसरे जातीय भावना अतीत के देवीप्यमान पार्श्व की ओर ध्यान देती हैं और इस प्रकार समीक्षात्मक दृष्टि आच्छन्न हो जाती है जो किसी भी अनुसन्धान कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु इससे भी बड़ी कठिनाई आधुनिक मष्तिष्क की पूर्वाग्राही धारणाओं के कारण उत्पन्न होती है। वह साधरणतः यह समझता है कि प्राचीन काल की प्रत्येक बात अन्धविश्वास पूर्ण है। उसमें कठोर अनुशासन को समझने के लिए धैर्य नही है। जो प्राचीन धर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी।"[1]

इन संस्कारों के प्रयोजन अत्यन्त लोकप्रिय हैं क्योंकि ये अशुभ प्रभावों का प्रतीकार अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण एवं भौतिक समृद्धिदायक होते हैं। संस्कारों द्वारा संस्कार्य का मार्गदर्शन होता है। "संस्कार के अनुपालन से मनुष्य का शारीरिक बौद्धिक और वैयक्तिक उत्कर्ष ही नही होता, बल्कि उसका सामाजिक व धार्मिक जीवन भी उन्नत होता है।"[2]

इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वर्णित संस्कारों में जो विधिविधान वर्णित हैं, उनका समीक्षात्मक अध्ययन इस अध्याय में इस प्रकार किया जा सकता है –

---

1. *हि०सं०, डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ०सं० – 27*
2. *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, डॉ० जे०एस०मिश्र, पृ०सं० – 232*

अंगभूत स्वस्तिवाचन एवं शान्तिपाठ की समीक्षा –

प्रायः सभी कर्मकाण्डों के प्रारम्भ में स्वस्ति वाचन व शान्तिपाठादि कार्य किये जाते हैं। ये कार्य केवल कर्मकाण्ड की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि आयुर्वेद शास्त्र ने इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखा है – "कृतबलिमंगलस्वस्तिवाचनम्"[1] "ततः प्रवृत्ते नवमे मासि .... स्वस्तिवाचयेत्।।"[2]

इन कर्मों की व्यावहारिकता तब और अधिक स्पष्ट होती है, जब चिकित्सा प्रकारों पर दृष्टिपात करते हैं। आयुर्वेदशास्त्र में तीन प्रकार की चिकित्साओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं – दैवव्यणश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय – "त्रिविधमौषधमिति दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं, सत्वावजयश्च। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमंगलबलिउपहार होम – नियम प्रायश्चितोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपात – गमनादिः, युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषध द्रव्याणां योजना, सत्वावजयः पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः"[3] अर्थात् दैवव्यपाश्रय चिकित्सा मंत्र, औषधि, मणि, मंगल, बलि, उपहार, होम, नियम प्रायाश्चित, उपवास, स्वस्तयन, प्रणिपात, (तीर्थ) गमनादि कार्यों को कहा जाता है। द्वितीय प्रकार की चिकित्सा युक्तिव्यपाश्रय आहार औषधि आदि की योजना होती है। अन्तिम प्रकार की चिकित्सा सत्वावजय अपस्य वस्तुओं के सेवन न करने से है।

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा से पूर्वजन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप उत्पन्न रोगों की चिकित्सा की जाती है। ऐसा देखा जाता है कि कुछ रोगों के कारण स्पष्ट होते है, परन्तु कुछ रोगों के कारण स्पष्ट नही होते। जिन रोगों के कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहें हों वर्तमान कालिक कर्मानुसार होते हैं लेकिन जिनके कारण स्पष्ट न हो रहें हो तो पूर्वजन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप होते हैं। कारण थोड़े हो परन्तु रोग अधिक मात्रा में हों तो यह पूर्व और वर्तमान दोनों जन्मों का परिणाम होता है।

इस वर्णन से यही तथ्य निकलता है कि स्वस्तिवाचन व शान्तिपाठादि कार्य चिकित्सा की कोटि में ही आते हैं जो पूर्वजन्म के पापमय कर्मों को शान्त करके व्यक्ति के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते है। इनका प्रत्येक कर्मों के प्रारम्भ में किया जाना कार्यों के

---

1. *सु०सं० – संस्कार विधि विमर्श के आधार पर पृ०सं० – 4*
2. *च०सं० – संस्कार विधि विमर्श के आधार पर पृ०सं० – 4*
3. *च०सं०सू०अ० – 11*

निर्विघ्न समाप्ति का भी द्योतक माना जाता है, यही इस कार्य की व्यवहारिकता है।

विवाह[1] –

हिन्दू संस्कारों में विवाह की महत्त्वपूर्ण उपादेयता है। अधिकांश गृह्यसूत्र विवाह से ही संस्कारों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। वैदिक काल में जब कि कर्मकाण्ड व संस्कारों के विधि विधान बहुत थोड़े ही अस्तित्व में आये थे, वैवाहिक रीति रिवाजों का विकास हो चुका था। ऋग्वेद[2] तथा अथर्ववेद[3] में उन्हें काव्यमय अभिव्यक्ति प्राप्त हुयी थी। घर का मधुर तथा स्नेहमय वातावरण पत्नी के साथ विवाहित प्रेममय जीवन तथा इसके फलस्वरूप होने वाली सन्तान का पालन पोषण वैदिक आर्यों के अत्यन्त प्रिय थे।[4]

आयुर्वेदीय ग्रन्थ भी विवाह का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। विवाह के पश्चात् पुत्रोत्पन्न करके व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्त होता है। पुत्र प्राप्ति के प्रसंग में चरक संहिता का अभिमत है –

"अच्छायश्चैकशाखाश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथानरः।।"[5]

अर्थात् बिना पुत्र के व्यक्ति छाया रहित एक मात्र शाखा वाले, फलरहित, अनिष्टगन्धयुक्त, अकेले खड़े वृक्ष के समान होता है। जैसे चित्र में अंकित दीपक व्यर्थ अधातु होने पर भी धातुवत् कान्तिवाला लगता है। तृण निर्मित पुरूष के समान दिखलाई देने वाला होता है। प्रतिष्ठारहित, नंगा, शून्य, एक नेत्र वाला, तथा निष्क्रिय होता है। लेकिन सन्तानवाला व्यक्ति शीलवान, अधिकनेत्रों से युक्त, ज्ञानवान, महान् आत्मा वाला होता है। वह मंगल सम्पन्न, प्रशस्त, धन्य एवं वीर्यवान है, वह बहुत शाखाओं वाला कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति प्रेम, बल, सुख, वृत्ति विस्तार, विपुलकुल, यश, लोक सुख का परिणाम एवं सन्तुष्टि के आश्रय होते हैं।

---

1. *जै0गृ0सू0 20/22, द्रा0 व खा0गृ0सू0 पृ0सं0 – 18, गो0गृ0सू0 पृ0सं0 –276*
2. *1,10,85*
3. *14, 1, 2*
4. *हि0सं0, डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ0सं0 195*
5. *संस्कार विधि विमर्श, अत्रिदेव गुप्त पृ0सं0 09*

चरक संहिता द्वारा सन्तान के महत्त्व को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है और ऐसे सन्तान प्राप्ति का आधार है विवाह।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विवाह संस्कार से पूर्व ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन का प्राविधान है।[1] व्यक्ति के जीवन में ब्रह्मचर्य की महनीय उपयोगिता है। सम्पूर्ण बाधाओं से रहित स्वास्थ्यपूर्ण जीवन के लिए ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य वह आधारशिला है, जिस पर जीवन रूपी महल स्थायित्त्व को प्राप्त करता है।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विवाह प्रकरण में कन्या लक्षण लक्षण वर्णित हैं।[2] यह लक्षण परीक्षा अत्यन्त व्यावहारिक धरातल पर आधृत है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में स्त्री लक्षण परीक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है कि कन्या के सभी अंग पूर्ण होने चाहिए।[3] इसका भाव यह है कि कन्या के दाँत, ओष्ठ, नख, कर्ण केश तथा स्तन नष्ट न हों अथवा छोटे न हो। अत्रिदेव गुप्त जी भी इसी भावना से भावित होकर कहते हैं – "अविनष्ट दन्तोष्ठ कर्णनख केशस्तनीम्"।[4] आयुर्वेदीय ग्रन्थों का भी इस विषय में अपना अभिमत है, जैसे स्तनों के विषय में चरक संहिता में कहा गया है कि "नात्यूर्ध्वो नातिलम्बावनतिकृशवानतिपीनौ युक्तपिप्यलकौ सुखप्रपानौ चेति स्तन सम्पत्।"[5] अर्थात् स्तन अधिक ऊपर न उठे हों, न अधिक नीचे लटकते हुए हों, न अत्यन्त कृश और न अत्यन्त हीन हों। स्तनों के अग्रभाग का आकार ऐसा होना चाहिए, जिससे बच्चों को दुग्ध पीने में कोई कठिनाई न हो। इन वर्णनों का तात्पर्य यह है कि कन्या के सभी अंग पूर्ण होने चाहिए। यदि कन्या अपूर्ण अंगोवाली होगी तो सन्तान भी अपूर्ण अंगोवाली हो सकता है। इसकी सम्भावना इसलिए की जाती है कि संभोग की अवस्था में रज व शुक्र दोनों में सम्पूर्ण अंगो का योग नही होता तो बच्चे में उसी अंग की न्यूनता हो सकती है।

---

1. *विद्याध्ययन से पूर्व ब्राह्मण का यज्ञोपवीत पाँच या सात वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारह वर्ष में तथा वैश्य का बारह वर्ष में निश्चित किया गया है। जै0गृ0सू0 10/4*
2. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 277*
3. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 278*
4. *सं0वि0वि0 – अत्रिदेव गुप्त पृ0सं0 95*
5. *शा0स्था0अ0 – 8*

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में एक अन्य लक्षण लोमों से सम्बन्धित है, कहा गया है कि लोम उचित रूप में होने चाहिए। लोमों का कम या अधिक होना दोनो शारीरिक विकार के अर्न्तगत ही आते हैं। चरक संहिता में लोमों की संख्या साढ़े तीन करोड़ बतलाई गयी है। जब लोम अधिक होते है तो इसका मतलब है कि एक लोमकूप से कई लोम बाहर निकलते हैं, जिसका परिणाम होता है कि स्वेद या मल पूर्णरूप से बाहर निकल नही पाते। यही बात कम लोमों के होने पर भी होती है। इसीलिए लोमों की उचित मात्रा का निर्देश सामवेदीय 'गृह्यसूत्रों में किया गया है।[1]

कन्या लक्षण परीक्षण में उसकी काया का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोभिल गृह्यसूत्र में इसका उल्लेख किया गया है।[2] इस प्रकरण में कहा गया है कि दीर्घकाय होना अधिक चर्बी का होना द्योतक है, जो प्रजनन शक्ति पर बुरा प्रभाव डाल सकता है। कृश होना रूग्णता का परिचायक हो सकता है। शारीरिक दृष्टि से स्थूल या कृश पुरूष चरक संहिता में निन्दनीय पुरूष कहे गये है।[3]

वर तथा कन्या वय में विशेष अन्तर नही होना चाहिए। सामवेदीय गृह्यसूत्रो मे अधिक उम्र की कन्या को निषिद्ध माना गया है।[4] अधिक उम्र ज्यों – ज्यों होती चली जाती है, त्यों – त्यों स्त्रियों की प्रजनन शक्ति कम होती चली जाती है और एक सीमा के पश्चात् विनष्ट हो जाती है। ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि सामान्यतया स्त्रियों की प्रजनन शक्ति अठ्ठारह से तेईस वर्ष तक पूर्ण रहती है।[5] इसी अवस्था में उत्पन्न बच्चे अधिक शक्तिशाली होते हैं। वधू की आयु षोडश वर्ष एवं पति का आयु पच्चीस वर्ष होने पर दोनों से उत्पन्न बच्चे स्वस्थ्य होते है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए अधिक उम्र वाली कन्या को निषिद्ध माना गया है।

ऊपर तो अधिक उम्र वाली कन्या को निषिद्ध माना गया है, लेकिन सामवेदीय गृह्यसूत्र कम उम्र वाली कन्या को भी निषिद्ध मानते है।[6] ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि जब कन्या सोलह वर्ष से कम उम्र की हो और वर पच्चीस से कम उम्र वाला हो तो उन दोनों से

---

1. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 278*
2. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 279*
3. *च0सं0सु0स्था0अ0 21*
4. *जै0गृ0सू0 19/11, गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 278*
5. *सं0वि0विं0 – अत्रिदेव गुप्त, पृ0सं0 – 101*
6. *जै0गृ0सू0 19/12*

उत्पन्न सन्तान या तो गर्भाशय में ही मृत हो जाता है या रोगी और निर्बल उत्पन्न होता है।[1]

कन्या के लक्षणों को परीक्षित करते समय उसके परिवार को भी ध्यान में रखा गया है। धन के सम्बन्ध में कहा गया है कि कन्या का परिवार वर परिवार के समकक्ष ही होना चाहिए "समान जातियाम्"।[2] अत्रिदेव गुप्त जी का इस सम्बन्ध में कहना है कि अभिजन तुल्य हो – "तुल्याभिजनम्"।[3] यहाँ तुल्याभिजन से तात्पर्य धन आदि से समकक्षता ही है। हमारी दृष्टि में यदि कन्यापक्ष वाले धनादि से वर पक्ष के समकक्ष न होंगे तो कन्या हमेशा मानसिक दृष्टि से दबी रहेगी ऐसी स्थिति में उससे उत्पन्न सन्तानें भी दबी मानसिकता वाली हो सकतीं हैं।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में वधू का लक्षण वर्णित करते समय कपिलवर्ण को निषिद्ध कहा गया है, कपिलवर्ण रूग्णता का सूचक होता है। क्षय, अपस्मार, कुष्ठ, जुड़वा बच्चों की उत्पत्ति आदि वाले कुलों में विवाह नही करने चाहिए। इन्हीं भावनाओं से भावित डॉ0 राजबली पाण्डेय का कहना है कि "बुद्धिमान पुरूष को विवाह में ऐसी स्त्री का सदा वर्जन करना चाहिए जिसके पलक नही गिरते, जिसकी दृष्टि क्षीण हो चुकी हो, जिसके जघन स्थल पर घने बाल हो, जिसके घुटने बहुत उठे हुए हो, जिसके कपोल पिचक गये हो, जो पाण्डुरोग से ग्रस्त हो, जिसकी आँखें लाल हों, जिसके हाँथ पैर बहुत पतले हों, जो बहुत लम्बी या ठिगनी हो, जिसकी आँखों पर भौंह न हो जिसके दाँत बहुत कम हो तथा जिसका मुख भयानक व अरुचिकर हो।"[4]

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विवाह प्रकरण में ही एक और कर्म का वर्णन है, जिसे 'ज्ञातिकर्म' कहा जाता है।[5] इस कार्य में यव अथवा माष को जल में पीसकर कन्या के सम्पूर्ण अंगों में लेप करके स्नान करा दिया जाता है। यव को सुरा में पीसकर शरीर पर लेप करने से बहुत से चर्मरोगों से मुक्ति मिल जाती है। चरक – संहिता में यव तथा माष्म के गुणों का वर्णन इसी भाव में किया गया है।[6]

---

1. *सं0वि0वि0 – अत्रिदेव गुप्त, पृ0सं0 – 99*
2. *जै0गृ0सू0 – 19/11*
3. *सं0वि0वि0 – अत्रिदेव गुप्त, पृ0सं0 – 95*
4. *हि0सं0 – डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ0सं0 – 245 – 246*
5. *द्रा0 व खा0गृ0सू0 पृ0सं0 – 21 तथा गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 283*
6. *च0सं0सू0स्था0अ0 27*

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विवाह संस्कार से चतुर्थ दिन एक कर्म करने का प्राविधान है जिसे 'चतुर्थी कर्म' कहा जाता है।[1] इस क्रिया में घृत व जल के मिश्रण का वधू के सर्वांग में लेप करने का विधान है। घृत लगाने से चर्म स्निग्ध हो जाता है तथा सामान्यतया यह देखा जाता है कि घृत कीटाणु नाशक होता है, अतः चमड़े पर विद्यमान छोटे – मोटे कीटाणुओं का भी इस क्रिया में नाश हो जाता है।

इन्हीं भावनाओं से भावित होकर डॉ0 राजबली पाण्डेय जी ने कहा है कि "हिन्दू विवाह , जिसका अनुष्ठान उपर्युक्त विधि विधानों द्वारा सम्पन्न होता है, के आधुनिक अर्थ में एक सामाजिक अनुबन्ध न होकर एक धार्मिक संस्था व संस्कार है। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि विवाह में वर और वधू, इन दो पक्षों के अतिरिक्त, तीसरा अतिमानव, आध्यात्मिक अथवा दैवी तत्त्व भी विद्यमान है। दोनों पक्षों की दैहिक स्थिति सदैव परिवर्तन का विषय है, अतः यह विवाह का स्थायी आधार नही हो सकती। पति और पत्नी के मध्य स्थायी सम्बन्ध का अस्तित्व इस तृतीय तत्व पर ही निर्भर करता है। पति और पत्नी केवल परस्पर एक दूसरे के प्रति ही उत्तरदायी नही होते, किन्तु उन्हें इस तृतीय तत्त्व के प्रति भी महत्तर निष्ठा रखनी पड़ती है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक विशुद्ध सामाजिक तथा भौतिक अनुबन्ध में यह धार्मिक या रहस्यात्मक तत्व है। इसके बिना दाम्पत्य जीवन का आकर्षण व स्थायित्व नष्ट हो जाता है।"[2]

इस संस्कार में वर को योग्यतम् मानकर उसे देवतुल्य बताकर एक योग्यतम् दम्पति स्वीकार किया जाता है। इस तरह दोनों का एक नवीन सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। हमारे शास्त्रों की यह अवधारणा है कि विवाह केवल एक जन्म का सम्बन्ध नही बल्कि जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध ा है तथा इसमें महान स्थायित्व है। विवाह के बन्धन में बँधकर व्यक्ति उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। विवाह का तात्पर्य कभी भी विषयोपभोग की स्वच्छन्दता नहीं है। विवाह में ही त्रिरात्रव्रत का विधान किया जाता है इस व्रत में तीन दिन क्षार व लवण रहित भोजन के साथ – साथ ब्रह्मचर्य पालन का भी विधान किया जाता है। गृहस्थ जीवन के प्रारम्भ में ही त्रिरात्रि पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन संयतमार्ग का प्रतीक मानना चाहिए। इस आत्म संयम से ही जीवन में अधिकाधिक सुख की प्राप्ति हो सकती है।

---

1. *जै0गृ0सू0 पृ0सं0 – 23, द्रा0 व खा0गृ0सू0 पृ0सं0 36,गो0गृ0सू0पृ0सं0–335*
2. *हिन्दू संस्कार – पृ0सं0 – 286 – 287*

गर्भाधान[1] –

हिन्दुओं द्वारा किये जाने वाले संस्कारों में यह प्रथम संस्कार है। विवाह के पश्चात् पुरुष द्वारा स्त्री में अपना वीर्य स्थापित करना तथा सन्तति की कामना ही इस संस्कार का मूल है। गर्भाधान स्वस्थ्य व यौवन पत्नी के साथ ही करना चाहिए। स्त्री रूपी क्षेत्र के स्वस्थ्य रहने से सन्तति स्वस्थ्य होगी।

गर्भ में वीर्य का स्थायित्व होने पर गर्भाधान क्रिया पूर्ण होती है। गर्भाधान संस्कार में चार तथ्य होते हैं – ऋतु, क्षेत्र, बीज तथा जल। ऋतु का अर्थ समय होता है। समय का अर्थ है– गर्भाधान का समय। यह गर्भाधान कब किया जाय इसके समय के विषय में कहा गया है कि जब स्त्रियों में मासिक धर्म आ जाय तब इसका समय जानना चाहिए। सामान्यतया यह देखा जाता है कि स्त्रियाँ जब तेरह या चौदह वर्ष की हो जाती है तो गर्भ धारण करने की क्षमता उनमें आ जाती है, और यह समय लगभग चालीस या पैतालिस वर्ष की अवस्था तक चलता है। इस सन्दर्भ में इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि ऋतुकाल का प्रारम्भ होना गर्भधारण के समय का ही द्योतन करता है, गर्भधारण की योग्यता का नही। स्त्रियों का रज लगभग सोलह से अठ्ठारह वर्ष की अवस्था होते ही परिपक्व होता है, तब से प्रारंम्भ होती है उनके गर्भधारण की क्षमता। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में इसीलिए स्वस्थ्य और यौवन स्त्री का उल्लेख इसी तथ्य को ध्यान में रखकर किया गया है।

समय –

यह संस्कार कब किया जाय यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में कहा गया है कि गर्भाधान का समय रक्तस्राव के बन्द हो जाने पर, रक्तस्राव प्रारम्भ होने के सोलह रात्रियों के अन्दर करना चाहिए। रक्तस्राव में गर्भाधान अतिनिन्दित माना गया है। ऐसी ही अवधारणा चरक – संहिता में भी है, कहा गया है कि रक्तस्राव प्रारम्भ होने के तीन रात्रियों तक गर्भाधान क्रिया न करें।[2] डॉ0 जयशंकर मिश्र भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं।[3] प्रारम्भिक

---

1. *जै0गृ0सू0 23/18, द्रा0 व खा0गृ0सू0 पृ0 36, गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 362*
2. *सा0स्था0अ0 – 2*
3. *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – पृ0सं0 289*

तीन रात्रियों में सम्भोग दारिद्रय जनक माना जाता है।[1] मेंरी दृष्टि में इन वचनों के पीछे यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि इन समयों में जो रक्त स्रावित होता है, इसमें सूखे हुए रज, रक्त, लसीका, श्लैष्मिक कला तथा अन्य सैल्स होते हैं। इन सबके बर्हिगत हो जाने पर गर्भाशय शुद्ध होकर गर्भधारण के योग्य हो जाता है। यदि इस रक्तस्राव की अवधि में गर्भधारण हो जाता है तो गर्भस्थ गर्भाशय में ही मृत हो जाता है या उत्पन्न होने वाला विकृत और निर्बल होता है। लेकिन सामान्यतया इस काल में गर्भ ठहरता ही नहीं। डाक्टरों की मान्यता है कि इस काल में सहवास से उपदंश नामक रोग होने की सम्भावना होती है। वैसे यह सामान्य सिद्ध है कि दूषित रक्त के सम्पर्क से खुजली, फुंसिया या अन्य कई रोगों के होने की सम्भावना होती है। सामवेदीय गृह्यसूत्र सोलह रात्रियों तक गर्भकाल मानते हैं।[2] यदि इन विहित दिनों में गर्भाशय में पुरुष वीर्य स्त्री रज के साथ नहीं मिलते हैं तो, सोलह दिनों के पश्चात गर्भाशय का मुख बन्द हो जाता है तथा स्त्री रज धीरे – धीरे सूखने लगता है। रज आठ – दस दिनों में पूर्ण रूपेण सूख जाता है, तथा अग्रिम मासिक धर्म में रक्त के साथ बाहर निकल जाता है। यह क्रिया प्रत्येक महीने होती रहती है। प्रत्येक माह रक्तस्राव होने के कारण स्त्रियों में प्रमेह रोग की कमी देखी जाती है। जिन स्त्रियों में रक्तस्राव नियत समय पर नही होता, उनमें मूत्र जन्य विकार भी देखने में आता है।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों की ऐसी मान्यता है कि रक्तस्राव के बन्द होने के पश्चात् युग्म रात्रियों में गर्भाधान करने से पुत्र तथा अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान करने से पुत्री की प्राप्ति होती है।[3] डॉ0 राजबली पाण्डेय जी का अभिमत है कि चौथी रात्रि में धारण किया हुआ पुत्र अल्पायु और धनहीन होता है। पंचम रात्रि में धारण की हुयी कन्या स्त्री सन्तति को ही उत्पन्न करती है। छठीं रात्रि का बच्चा मध्यश्रेणी (उदासीन) होता है। सप्तमरात्रि की कन्या बन्ध्या होती है। आठवीं रात्रि का लड़का सम्पति का स्वामी होता है। नवीं रात्रि में गर्भ से शुभ स्त्री उत्पन्न होती है। दशवीं रात्रि का पुत्र बुद्धिमान होता है, ग्यारहवीं रात्रि की कन्या अधार्मिक होती है। बारहवीं रात्रि का श्रेष्ठ पुरुष होता है, तेरहवीं रात्रि की कन्या व्यभिचारिणी होती है, चौदहवीं रात्रि का पुत्र धार्मिक, कृतज्ञ, संयमी और दृढ़ प्रतिज्ञ होता है, पन्द्रहवी रात्रि की स्त्री बहुत पुत्रों की माँ और पतिव्रता होती है।

---

1. च0सं0सु0स्था0अ0 – 25
2. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 352
3. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 352

सोलहवीं रात्रि का पुत्र विद्वान, श्रेष्ठ, सत्यवादी, जितेन्द्रिय और समस्त प्राणियों को शरण देने वाला होता है।[1] युग्म और अयुग्म की गणना यहाँ तिथियों से विदित है।

युग्म तिथियों में आर्तव (रज) क्षीण रहता है, अयुग्म तिथियों में पुष्ट होता है। इसी कारण युग्म रात्रियों में गर्भाधान करने से पुत्र और अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान करने से कन्या की उत्पत्ति बतलाई गई है।[2] वैसे यह सर्वमान्य है कि शुक्र के आधिक्य से पुरुष सन्तान रज के आधिक्य से स्त्री संतान होती है। अत्रिदेव गुप्त ने चन्द्रमा का प्रभाव शरीर पर मानकर युग्म और अयुग्म रात्रियों में आर्तव का क्रमशः क्षीण व पुष्ट होना स्वीकार करते हैं।[3] मेरी दृष्टि में शारीरिक प्रकृति आहार अथवा औषधि के सेवन से पुरूष में वीर्य का आधिक्य हो जाता है, इसलिए ऐसी स्थिति में अयुग्म रात्रियों में भी पुत्रोत्पत्ति हो सकती है।

गर्भाधान रात्रिकाल में ही करना चाहिए, ऐसी अवधारण सामवेदीय गृह्यसूत्रों की है।[4] इस सम्बन्ध में डॉ0 राजबली पाण्डेय का कथन है कि दिन में सम्भोग करने वाले पुरूष का प्राणवायु अधिक तीव्र गति से चलने लगता है, अतः रात्रि में पत्नी के पास गमन करने वाले व्यक्ति ब्रह्मचारी होते है।[5]

विद्वानों ने इन नियमों के अपवाद भी बतलाए है, ये अपवाद शारीरिक मानसिक और चारित्रिक दृष्टि से हैं। वृद्धा, दुश्चरित्रा, आर्तवरहिता, बहुपुत्रा स्नाता आदि स्त्रियों के साथ गर्भाधान न करने पर किसी भी प्रकार के दोष का अभाव बतलाया गया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से गर्भाधान संस्कार का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हम न तो उस आदिम मनुष्य को देखते है जो सन्तति को देखकर आश्चर्य करता था और उसकी प्राप्ति के लिए सदा देवताओं की सहायता खोजता फिरता था और न गर्भधारण बिना सन्तति की इच्छा के ही कोई आकस्मिक घटना थी। यहाँ हम उन व्यक्तियों को पाते हैं जो अपनी स्त्री के समीप सन्तति उत्पत्ति रूप एक निश्चित उद्देश्य को लेकर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति के लिए एक

---

1. *हि0सं0 – पृ0सं0 – 64-64*
2. *सं0वि0वि0 –अत्रिदेव गुप्त – पृ0सं0 20*
3. *वही।*
4. *गो0गृ0सू0 2/5/7*
5. *हि0सं0 – पृ0सं0 64*

पूर्वनियत रात्रि में निश्चित प्रकार से ऐसी धार्मिक पवित्रता को लेकर जाते थे, जो भावी सन्तान को निर्मल करती थी।[1]

पुंसवन -

पुरूष सन्तति की उत्पत्ति के लिए यह संस्कार किया जाता है। गर्भधारण के निश्चित हो जाने के पश्चात् गर्भस्थ का इस संस्कार द्वारा अभिषेक किया जाता है। हमेशा से ही लोगों में पुरूष सन्तति की अभिलाषा थी, अतः इस संस्कार के द्वारा इसी लक्ष्य को प्राप्त करने की आशा की जाती है। "पुमान् सूयते अनेन कर्मणा इति पुंसवनम्।"[2] सामान्यतया इस संस्कार से पुरूष सन्तति होने की आशा की जाती है, लेकिन पुरूष सन्तति होगी यह निशचित रूप से नही कहा जा सकता । पूर्वजन्म में किए गये कर्म के प्रबल होने पर वर्तमान कृत्य नष्ट हो जाते हैं और पुंसवन क्रिया सफल नहीं होती है। इसके विपरीत सफल होती है।[3]

सामवेदीय गृह्यसूत्र इस संस्कार को गर्भ से तृतीय महीने के पश्चात् करने का निर्देशन देते हैं।[4] तीन महीने तक गर्भस्थ बच्चे का लिंग ज्ञान स्पष्ट नही होता। प्राचीन काल में कुछ विद्वानों ने लिंग ज्ञान के लिए कुछ आधार बतलाए हैं, जैसे – बाम अंग से अधिकांश कार्यों को करना, निद्रावस्था में खाने की वस्तुओं में स्त्री लिंग की वस्तुओं की चाह रखना, गर्भ का बाईं कोख में बढ़ना, गर्भमण्डल की गोलाकृति न होना, दुग्ध का सर्वप्रथम बाएँ स्तन में आना स्त्री सन्तति होने के संकेत हैं, लेकिन इसके विपरीत पुरूष सन्तति होने का संकेत देते हैं। गर्भस्थ शिशु यदि पुरूष है तो गर्भाकृति कम बढ़ती है, लेकिन स्त्री सन्तति होने पर गर्भोदक ज्यादा होता है। इस सम्बन्ध में और भी कुछ नये उल्लेख प्राप्त होते हैं। एक अंग्रेजी पत्र में एक जर्मनी के डाक्टर ने प्रयोग किया। उसके मत में यदि गर्भस्थ पुत्र होगा तो माता के दाहिनी ऑख में एक स्वर्ण रेखा का चक्कर दिखलाई देगा और गर्भस्थ कन्या होने पर बाई ऑख में नीला चक्कर होगा।[5] इन

---

1. *हि०सं० - डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ०सं० - 72*
2. *च०सं०सा०स्था० अ०- 8*
3. *सं०वि०वि० -अत्रिदेव गुप्त, पृ०सं० 95*
4. *जै०गृ०सू० 6/3, गो०गृ०सू० 2/6/1द्रा० व खा०गृ०सू० 2/2/17*
5. *इलेस्टेड वीकली 12 जून 1950 - सं०वि०वि० अत्रिदेव गुप्त, पृ055 के आधार पर*

सिद्धान्तों में शत प्रतिशत सत्यता नही है। लिंग ज्ञान के लिए जो आधुनिक तरीके विकसित किये गये हैं, उन पर सरकारी प्रतिबन्ध है। यह अव्यक्त स्थिति है, इसी का लाभ उठाने के लिए पुंसवन संस्कार को करने का विधान किया गया है।

इस संस्कार के विधि विधान बड़े ही वैज्ञानिक हैं। इसी प्रकरण में वटवृक्ष शुंग के विषय में कहा गया है कि वह उभय फलों से युक्त, क्रिमि रहित व हरा भरा हो। शुंग जब सूखा रहेगा तो उससे रस नही निकल सकेगा, इसलिए हरे भरे शुंग का विधान किया गया है। क्रिमिरहित होना इसलिए कहा गया है कि क्रिमियाँ अनेक रोगों की मूल होती हैं। फल के विषय में कहा गया है कि उसे भूमि पर नहीं रखना चाहिए, क्योंकि धूल के कणों में अनेकानेक रोगों के सूक्ष्म कीटाणु निहित होते हैं। सील और लोढ़े को भली भाँति साफ करने के पीछे भी यही रहस्य है। वटवृक्ष के शुंग के विषय में कहा गया है कि इसमें एक ऐसा तत्त्व पाया जाता है कि वह गर्भस्थ अव्यक्त बच्चे में सौम्यतत्त्व की वृद्धि करता है, आग्नेय तत्त्व का ह्रास करता है। पुरूष सौम्य तत्त्व प्रधान होता है और स्त्रियाँ आग्नेय तत्त्व प्रधान। सौम्यतत्त्व का आधिक्य होने से पुरूष सन्तति होती है और आग्नेय तत्त्व के आधिक्य होने से स्त्री सन्तति उत्पन्न होती है। इस संस्कार से गर्भिणी के ऊपर भी मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उसे ऐसा आभास होता है उसे मनोनुकूल सन्तति प्राप्त होगी। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में वट वृक्ष शुंग के अतिरिक्त अनेक औषधियों को देने का विधान किया गया है। इन औषधियों में सुलक्ष्मणा, सहदेवा, विश्वदेवी में से किसी एक औषधि को पीसकर गर्भिणी की दाहिनी नासिका में तीन चार बूँद डालने का विधान है।[1] कमल पत्र, नीलकमल पत्र व बरगद के कोपल का नस्य लेने का विधान है। श्वेत कटेरे की जड़ को पीसकर नासिका में डालने का विधान है। शालीधान्य को पीसकर पिण्ड बनाकर उसे पकावें। पकाते समय निकलती हुई भाप को सूँघें तथा इसे निचोड़कर इसका पानी रूई से नासिका में डालना चाहिए। सोने चाँदी या लोहे के पुरूषाकृति बनाकर, दूध, दही या पानी में डालकर पुनः प्रतिमा निकालकर पेय को पी जाय।[2]

इस संस्कार से पुरूष सन्तति होने की सम्भावना तो की गई है साथ ही साथ बट वृक्ष शुंग के रस में ऐसा तत्त्व पाया जाता है जो गर्भपात निरोधक होता है। इस विषय में सुश्रत

---

1. *सु०सं०सू०स्था०अ० – 2*
2. *सं०वि०वि०, अत्रिदेव गुप्त, पृ०सं० 58–59*

संहिता का अभिमत है कि वटवृक्ष में ऐसा तत्त्व विद्यमान है कि वह गर्भ के समय के सभी कष्टों को दूर करता है, जैसे – तिल्ली का आधिक्य, दाहादि का निवारण।[1]

इस संस्कार के विषय में यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या इस संस्कार को प्रत्येक गर्भकाल में किया जाय? अथवा केवल प्रथमबार। शौनक के अनुसार इसे प्रत्येक गर्भधारण के पश्चात् करना चाहिए, क्योंकि स्पर्श व औषधि सेवन से गर्भ में पवित्रता व शुद्धि आती है।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति की एक टीका में कहा गया है कि ये पुसंवन तथा सीमन्तोन्नयन के कृत्य क्षेत्र संस्कार है, अतः इनका सम्पादन एक ही बार करना चाहिए, प्रत्येक गर्भधारण में नही।[3]

संस्कार का महत्त्व इसके प्रमुख तत्वों में था। गर्भिणी स्त्री को घ्राणेन्द्रिय के दाहिने रन्ध्र में बटवृक्ष का रस गर्भपात के निरोध तथा पुंसन्तति के जन्म के निश्चय के उद्देश्य से छोड़ा जाता था। नासारन्ध्रों में औषधि का छोड़ना हिन्दू समाज में प्रचलित एक सामान्य प्रथा है। अतः यह स्पष्ट है कि वह कृत्य जिसमें इसका विधान किया गया है, निःसन्देह जनता के आयुर्वेदीय अनुभव पर आधारित था। गर्भाशय के स्पर्श के माध्यम से भावी माता द्वारा पूर्ण सावधानी बरतने की आवश्यकता पर बल दिया जाता था, जिससे गर्भस्थ शिशु स्वस्थ्य तथा सबल हो और गर्भपात की सम्भावना न रहे।[4]

सीमन्तोन्नयन –[5]

सीमन्तोन्नयन का शाब्दिक अर्थ है मांग को ऊपर उठाना अर्थात् सँवारना। "सीमान्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्।"[6] सामवेदीय गृह्यसूत्रों में इस संस्कार को चौथे, छठवें या आठवें महीने में करने का विधान किया गया है।[7] इस संस्कार के विधान में ऐसा विश्वास था कि जब स्त्री गर्भिणी होती है तब, उस पर अनेक बिघ्न बाधायें आती

1. *सू०स्था०अ०- 38*
2. *हि०सं० - डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ०सं० 76*
3. *वही।*
4. *हि०सं० - डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ०सं० 76-77*
5. *जै०गृ०सू० पृ० 6-7, द्रा० व खा०गृ०सू० पृ० 62, गो०गृ०सू० पृ०सं० - 379*
6. *हि०सं० - डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ०सं० 78*
7. *जै०गृ०सू० 6/20, द्रा० व खा०गृ०सू० 2/2/24, गो०गृ०सू० 2/7/2*

हैं, जो उसे डराकर गर्भ का विनाश कर देती हैं। अतः इन दुष्ट शक्तियों और बाधाओं से गर्भिणी स्त्री की रक्षा का उपाय सीमन्तोन्नयन संस्कार से किया गया है।[1] आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अनुसार गर्भस्थ बच्चे का पाँचवें महीने में मन और छठवें महीने में बुद्धि का निर्माण होता है।[2] इस निर्माण क्रिया में सुगमता के लिए इस संस्कार को करने का प्राविधान है। इस संस्कार का जो समय निध ारित किया गया है इसमें गर्भिणी प्रसन्नता और दोहद की पूर्ति अत्यावश्यक होता है। दोहद की पूर्ति न होने पर अनेक उपद्रवों के उल्लेख आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।[3] चरक संहिता में गर्भिणी को प्रसन्न रखने का भी सन्दर्भ देखा जा सकता है।[4] चौथा और छठवॉ महीना तो दोहद की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है लेकिन आठवॉ महीना भी कम महत्वपूर्ण नही हैं। इस महीने में ओज कभी माँ के अन्दर रहता है तो कभी बच्चे के अन्दर। जब ओज बच्चे के अन्दर रहता है तो माँ के अन्दर उदासी रहती है तथा यह ओज जब माँ के अन्दर रहता है तो बच्चा उदास रहता है। इस संस्कार द्वारा माँ को प्रसन्न रख उसके अन्दर ओज की वृद्धि की जाती है।

विविध ग्रन्थों के अध्ययनोपरान्त इस संस्कार के और भी प्रयोजन दृष्टिगत होते हैं। रूधिर नाश के लिए तत्पर कतिपय दुष्टराक्षासियॉ पत्नी के प्रथम गर्भ को खाने के लिए आती हैं। पति को चाहिए कि उनके निरसन के लिए वह स्त्री का आवाहान करे, क्योंकि उनके द्वारा रक्षित स्त्री को उक्त राक्षसियॉ मुक्त कर देती हैं। ये अलक्ष्य क्रूर, मांसभक्षी प्रथम गर्भकाल में स्त्री पर अधि ाकार जमा लेती हैं तथा उसे पीड़ा पहुँचाती हैं, अतः उसके भगाने के लिए सीमन्तोन्नयन नामक संस्कार का विधान किया गया है।[5] आयुर्वेदीय ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि गर्भिणी की प्रसन्नता के अतिरिक्त उसे मैथुन, अत्यधिक शारीरिक श्रम, रात्रिजागरण, दिवाशयन, वाहन पर चढ़ना, भय, अत्यधिक सिकुड़कर बैठना, रेंगना, रक्त बाहर निकलना तथा कुसमय में मलमूत्र का त्याग न करना आदि धर्मों का भी पालन करना चाहिए।

---

1. *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – डॉ0 जयशंकर मिश्र, पृ0सं0 – 291*
2. *सु0सं0स्था0अ0–33*
3. *च0सं0शा0स्था0अ0 4*
4. *सू0स्था0अ0–25*
5. *हि0सं0 – डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ0सं0 70*

इस संस्कार में गर्भिणी के शरीर मे गूलर का शलाटू वृक्ष के फलों या पत्तियों को बाधने का विधान है।[1] इस विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि आयुर्वेदीय ग्रन्थों में क्षीरी वृक्षों को गर्भपात का निराधक बतलाया गया है ।

गर्भिणी स्त्री के स्वास्थ्य के लिए विहित नियम हिन्दुओं के आयुर्वेदीय ज्ञान पर आधारित हैं। सुश्रुत में प्रायः ऐसे ही नियमों का विधान किया गया है। गर्भधारण के समय से उसे मैथुन, अतिश्रम, दिवाशयन, रात्रिजागरण .... वर्जन कर देना चाहिए।[2] डॉ0 जयशंकर मिश्र इस संस्कार के उद्देश्य के विषय में लिखते है कि गर्भिणी स्त्री के सुख और सान्त्वना के निमित्त यह संस्कार सम्पादित किया जाता था। उसे शारीरिक श्रम से वंचित करके शान्ति और सुविधा का वातावरण प्रदान किया जाता था, ताकि वह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का लाभ कर सके।[3]

जातकर्म -

यह बाल्यावस्था का प्रथम संस्कार है। मनु के अनुसार इस संस्कार को नाल – छेदन से पहले ही कर देना चाहिए।[4] जैमिनी गृह्यसूत्र के अतिरिक्त सभी सामवेदीय गृह्यसूत्र जातकर्म व अन्नप्रासन को ही एक मानते हैं, जो मेरी दृष्टि में उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि जातकर्म के पश्चात् नामकरण, निष्क्रमण तथा अन्नप्रासन का क्रम आता है। हम अपने इस शोधं – प्रबन्ध में जातकर्म व अन्नप्रासन इन दोनो संस्कारों की अलग – अलग समीक्षाएं करेगें।

नवजात शिशु की सर्वतोभावने रक्षा माता – पिता का परम कर्तव्य होता है। यही भावना इस संस्कार के मूल में है। बालक जब जन्म लेता है तो, उस समय उसमें अन्तः तथा बाह्य अनेक प्रकार की गन्दगियाँ होती हैं। गर्भपानी, उबटन, बरगदादि अनेक वृक्षों की छालों की क्वाथ, बायबिडंग, सर्वगन्धोदक आदि से बच्चे की बाह्य सफाई बड़ी आसानी से हो जाती है, लेकिन अन्तः की सफाई एक समस्या थी, इस संस्कार द्वारा अन्तः सफाई किया जाता है। यव और धान्य को जल में पीसकर छानकर बालक के मुख में डाला जाता है। यव के विषय में कहा जाता है कि वह

---

1. *सु0सं0शा0स्था0अ0 - 11*
2. *हि0सं0 - डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ0सं0 86*
3. *प्राचीन 'भारत का सामाजिक इतिहा - पृ0सं0 291*
4. *मनुस्मृति - 2/29*

कफज विकारों को विनष्ट करता है।[1] आमाशय, फेफड़े व श्वास नली में विद्यमान कफ को बाहर निकालने में यव सहायक होता है। इसी कार्य के लिए घृत व मधु का प्राशन भी इसी संस्कार में कराया जाता है। घृत व मधु में कफ की सफाई के अतिरिक्त बुद्धि, स्मृति, प्रज्ञा, जठराग्नि, आयु, शुक्र, आदि के वर्धन के लिए, रोशनी बढ़ांने के लिए व शरीर वर्द्धन, कान्ति, सुकुमार्य व उत्तम स्वर के लिए भी उत्तम पदार्थ माना जाता है।[2] मधु में इसके अतिरिक्त भी अनेक गुण हैं जैसे – मधु मधुर रस से युक्त, कषाय, अनुरसवाला, रूक्ष, शीतल, अग्नि दीपक, वर्ण्य, स्वर्य और लघु है। यह शरीर को कोमल बनाता है। मेदानाशक, हृदय – प्रिय, टूटे हुए अंगों को जोडने वाला, व्रणशोधक, व्रणरोपक, वाजीकरण, चक्षुष्य व निर्मलता प्रदान करता है। प्रमेह, हिक्का, श्वास, कास, अतिसार, वमन, तृष्णा, क्रिमि व विष – नाश मे भी सहायक होता है।[3] इस वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि इस संस्कार में प्रयुक्त होने वाले यव घृत मधु आदि के अनेक विध महत्त्व हैं। इन्हीं महत्त्वों को देखकर ही हमारे पूर्वजों ने इस संस्कार में इन वस्तुओं का उपयोग किया है। चरक संहिता भी स्पष्ट रूपेण इस संस्कार में प्रयुक्त होने वाली इन वस्तुओं के उपयोग के साथ इस संस्कार के विषय में अपना अभिमत प्रकट करती है।[4] इस प्रकरण में कहा गया है कि घृत व मधु को असमान मात्रा में मिलाना चाहिए। घृत व मधु का प्राशन स्वर्णशलाका द्वारा कराये जाने का विधान किया गया है। स्वर्णशलाका के विषय में कहा गया है कि स्वर्णरस के प्रभाव के कारण शरीर पर रोगों ,क्रिमियों व जानवरों के विष का कम प्रभाव पड़ता है। आधुनिक चिकित्सा में इसी भावना के कारण स्वर्ण को वरक बनाकर – मधु में मिश्रित कर बच्चों को देने का विधान है।

अन्नप्राशन –

शिशु को अन्न खिलाना ही अन्नप्राशन कहा जाता है। सामवेदीय गृह्यसूत्र में "षष्ठेऽन्नप्राशनमासि"[5] वाक्य द्वारा छठवें महीने में अन्नप्राशन संस्कार करने का विधान किया गया है।

---

1. च0सं0सू0स्था0अ0 – 27
2. सु0सं0शा0स्था0अ0 – 45
3. सं0वि0वि0 – अत्रिदेव गुप्त, पृ0सं0 71
4. च0सं0स्था0अ0 – 8
5. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 – 403

डॉ0 जयशंकर मिश्र इसे पाँचवें महीने में करने का विधान करते हैं।[1] मनुस्मृति[2] याज्ञवल्क्यस्मृति[3] आदि ग्रन्थों में इसे छठवें महीने में करने का विधान किया गया है। कुछ विद्वानों की यह अवधारणा है कि इस संस्कार को तब करना चाहिए जब बच्चे को दाँत आ जाय चाहे वह छठॉ महीना हो, बारहवॉ महीना हो या अन्य कोई।[4]

अन्नप्राशन संस्कार का महत्त्व यह था कि शिशु उचित समय पर अपनी माता के स्तनं से पृथक कर दिये जाते थे। वे माता पिता की स्वेच्छाचारिता पर नही छोड़ दिये जाते थे, जो प्रायः उनकी पाचन की क्षमता पर बिना ध्यान दिये अति भोजन द्वारा उनके शारीरिक विकास में बाधा पहुँचाती हैं। अन्नप्राशन संस्कार माता को भी यह चेतावनी देता है कि एक निश्चित समय पर उसे शिशु को दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिए। अनाड़ी माता शिशु के प्रति स्नेह के कारण उसे एक वर्ष या उससे भी अधिक समय तक अपना स्तन पिलाती ही रहती हैं। किन्तु वह इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देतीं कि इससे यह शिशु का यथार्थ कल्याण न कर अपनी शक्ति का निरर्थक क्षय करती हैं शिशु और माता दोनों के हित के लिए इस संस्कार द्वारा सामयिक चेतावनी दे दी जाती थी।[5]

निष्क्रमण –[6]

जन्म से एक निश्चित अवधि के बाद जब सन्तान को पहली बार घर से बाहर निकाला जाता था, तब वह निष्क्रमण कहा जाता था।[7] इस संस्कार के सम्बन्ध में डॉ0 राजबली पाण्डेय जी का अभिमत है कि शिशु के उन्नतिशील जीवन में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पग और परिवर्तन माता, पिता तथा परिवार के लिए हर्ष और आनन्द का अवसर था तथा वह अवसरोचित धार्मिक

1. *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ0सं0 – 295*
2. *2/34*
3. *1/12*
4. *हि0सं0 – डॉ0 राजबली पाण्डेय पृ0सं0 115*
5. *हि0सं0 – डॉ0 राजबली पाण्डेय पृ0सं0 118*
6. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 411, द्रा0तथा खा0गृ0सू0 पृ0सं0 63*
7. *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, डॉ0 जयशंकर मिश्र, पृ0 294*

विधि – विधानों के साथ मनाया जाता था। प्रसूतिगृह में सीमित रहने की अवधि समाप्त हो जाने पर माता उस छोटे से कमरे से बाहर आती और पुनः पारिवारिक जीवन में भाग लेना प्रारम्भ कर देती थी। इसके साथ ही शिशु का संसार भी कुछ अधिक विस्तृत हो जाता था। अब वह घर के किसी भाग में ले जाया जा सकता था।[1]

आयुर्वेदीय ग्रन्थ निष्क्रमण को भिन्न प्रकार से कथित करते हैं। शिशु को घर से निकालकर कुमारागार में ले जाने का वर्णन यहाँ प्राप्त होता है। कुमारागार का वातावरण, उसकी बनावट, बच्चों के खिलौने, उनके वस्त्र व विस्तरे, उनको विविध मणियों को धारण कराना, उनका शारीरिक व मानसिक विकास आदि अनेक कार्य आयुर्वेदीय दृष्टि में निष्क्रमण के अन्तर्गत हैं।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में रात्रि के शीतल वातावरण में मन्त्रोच्चारण पूर्वक चन्द्रदर्शन पूर्वक बालक को बाह्य वातावरण में लाये जाने का विधान है। इसमें विविध संकटों से दूर करने की भावना परिलक्षित होती है। देवताओं की वन्दना भी आयुर्वेदीय दृष्टि में दैवव्यप्राश्रय चिकित्सा के ही अर्न्तगत है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि इस संस्कार का महत्त्व शिशु की शारीरिक अवस्था को ध्यान में रखकर है। एक निश्चित समय के पश्चात् शिशु को वाह्य वातावरण में ले जाने का प्राविधान इस संस्कार में हैं। धीरे – धीरे अभ्यास हो जाने के पश्चात् शिशु की ऐसी शारीरिक क्षमता विकसित हो जाती है कि वह कभी भी चाहे दिन हो या रात वाह्य वातावरण मे लाया जा सकता है।

नामकरण –[2]

नाम द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति को उद्बोधित किया जाता है, अतः हिन्दू समाज नाम प्रदान करने को भी एक संस्कार के अन्तर्गत समाहित करता है। समाज में नाम को बड़ा महत्त्व प्रदान किया जाता है। भाग्य एवं शुभाशुभ कर्मों के भी आधार नाम को ही माना जाता है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों के ही समान आयुर्वेदीय शास्त्रों में नामकरण की प्रक्रिया उपलब्ध होती है।[3] जैसा कि

---

1. हि०सं० – पृ०सं० 110
2. जै०गृ०सू० पृ०सं० 8, द्रा० व खा०गृ०सू० पृ०सं० 66, गो०गृ०सू० पृ०सं० 417
3. च०सं०शा०स्था०अ० – 8

प्रथम अध्याय में नामकरण प्रसंग में नामकरण के सन्दर्भ में अनेक तथ्य दर्शाये गये है, ये विधान किन – किन दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं विचारणीय प्रश्न है। इस प्रसंग में सप्तप्राणों का उल्लेख मिलता है, यही कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य है, अन्य विधि विधानों का महत्त्व तो व्यवहारिक दृष्टि में हमें प्राप्त नही होता केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मनुष्य जीवन पर्यन्त उस नाम से संयुक्त रहता था। यह उस आदर्श का अनवरत स्मारक था, जिसके प्रति व्यक्ति से निष्ठावान तथा सच्चे बने रहने की अपेक्षा की जाती थी। इसलिए नाम को काफी सोच विचार कर रखने के निर्देश दिये गये हैं।

चूड़ाकरण –

सर्वप्रथम जब शिशु के केशों का कर्तन किया जाता था, तब उसे चूड़ाकरण या चौल के नाम से अभिहित किया जाता था। इस संस्कार में 'शिखा' को छोड़कर शिर के सभी बालों को काट दिया जाता था।

यदि हम चूड़ाकरण की व्यवहारिकता पर ध्यान देते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि चूड़ाकरण आयुर्वेद सम्मत संस्कार है। दीर्घायु, स्वास्थ्य एवं सौन्दर्यादि के लिए इस संस्कार को सम्पादित किया जाता था। सामवेदीय गृह्यसूत्र इस संस्कार को तृतीय वर्ष में करने का विधान करते हैं।[1] यह समय भी आयुर्वेद सम्मत है। इसके पहले बच्चे के शिर की अस्थियों की सन्धियॉ मजबूत नही होतीं। शिर की अस्थियों के जुड़ने के पूर्व तथा पश्चिम जो क्रमशः दोनो पार्श्व की अस्थियों के माथे की अस्थि के मिलने से तथा दोनो पार्श्व अस्थियों और पीछे की अस्थियों के मिलन से निर्मित होते हैं। ये मिलन स्थान भी इस अवस्था से पूर्व पूर्ण रूप से नही भर पाते। इनकी रक्षा के लिए ही इस अवस्था तक मुण्डन न कराने को कहा गया है। यदि संस्कार को इस निर्धारित समय से पूर्व करते हैं तो मस्तुलुंग जो मस्तिष्क का एक अंग है, के क्षीण हो जाने की सम्भावना रहती है। इसका परिणाम होगा कि वायु कुपित होकर तालु की हड्डी को टेढ़ी कर देती है। तीन वर्ष में चूडाकरण की पुष्टि सुश्रुत – संहिता में भी की गई है।[2]

1. जै0गृ0सू0 8/16, द्रा0 व खा0गृ0सू0 2/3/16, गो0गृ0सू0 2/9/1
2. 'पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।
   हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्।।" चि0स्था0 – 24–75

कटे बाल को गोबर में मिलाकर जमीन में गाड़ देने का विधान है, इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि बाल शरीर के एक अंग हैं, बाहर फेके हुए बालों के माध्यम से कोई भी अभिचारिक कर्म किया जा सकता है, इसलिए बालों को जमीन के अन्दर गाड़ दिया जाता था।

विद्वानों की ऐसी अवधारणा है कि चूड़ाकरण में बालक की माता को रजस्वला नही होना चाहिए –

विवाहे विधवा नारी जडत्वं व्रतबन्धने।
चौले चैव शिशोमृत्युस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत्।।[1]

अर्थात् माँ यदि रजस्वला हो तो विवाह करने से नारी विधवा हो जाती है, व्रतबन्ध में ब्रम्हचारी जड़ हो जाता है। चूड़ाकरण में शिशु की मृत्यु हो जाती है, इसलिए रजस्वला होने पर इन तीनों कार्यों को छोड़ देना चाहिए।

इस संस्कार में शिखाकरण का भी अपना विशिष्ट स्थान है। शिखा के सम्बन्ध में सुश्रुत –संहिता में कहा गया है कि – "मस्तकाभ्यनतरोपरिष्टात्शिरासम्बन्धिसन्निपातोरोमा वर्तोऽधिपतिस्तत्रापि सद्यो मरणम्।"[2] अर्थात् शिर के भीतर ऊपर की ओर शिरसन्धि का सन्निपात है। यही रोमवर्त के अधिपति की स्थिति होती है। इस अंग पर किसी भी प्रकार की चोट लगने पर तत्काल मृत्यु हो जाती है, अतः इसी अंग की सुरक्षा की दृष्टि से शिखा रखने की व्यवस्था दी गई है।

उपनयन –[3]

इसी संस्कार के पश्चात् व्यक्ति का विद्यार्थी जीवन में प्रारम्भ होता है। इसी को यज्ञोपवीत संस्कार भी कहा जाता है। ब्रह्मचारी को ग्रहण करना [4] ही तात्पर्य है अथर्ववेद को उपनयन शब्द से। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उपनयन का यही अभिप्राय है। ब्रह्मचर्यार्थ विद्यार्थी द्वारा प्रार्थना तथा आचार्य द्वारा उसकी स्वीकृति ही गृह्यसूत्रों का अभिप्राय है उपनयन शब्द से। विद्यार्थी

---

1. *बृद्धगार्ग्य –हि0सं0– डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ0सं0 124*
2. *शा0स्था0अ0 6/83*
3. *जै0गृ0सू0 पृ0सं0 10, द्रा0 व खा0गृ0सू0 पृ0सं0 75, गो0गृ0सू0 पृ0सं0 453*
4. *अ0वे0 11/5/3*

जीवन व्यतीत करते समय व्यक्ति को ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है। जीवन के प्रारम्भिक काल में ब्रह्मचर्य का पालन सम्पूर्ण जीवन के लिए उपयोगी है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में जीवन रूपी भित्ति की सुदृढ़ता के लिए ब्रह्मचर्य पालन को आवश्यक बतलाया गया है।[1]

उपनयन प्रकरण में ऐसा विधान किया गया है कि ब्रह्मचारी दण्ड धारण करे।[2] चरक संहिता में दण्ड के विषय में कहा गया है कि वह मनुष्यों को गिरने से बचाता है, लड़ाई होने पर शत्रुओं को नष्ट करता है, शरीर का सहायक होता है। इसलिए दण्ड मनुष्य के लिए हितकर एवं भय को दूर करने वाला होता है।[3]

उपनयन प्रकरण में एक स्थान पर आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी के नाभि प्रदेश को स्पर्श करने का विधान है।[4] इसी समय नाभि को प्राणों की ग्रन्थि भी कहा गय है। यह कथन आयुर्वेदीय परम्परा से भी मेल खाता है। सुश्रुत संहिता का इस प्रकरण में कथन है कि "नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः।"[5] जठराग्नि के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग भी यहाँ किया गया है जैसे – अहुर,[6] अथोऽशान[7] आदि। इसी प्रकरण में दिवाशयन वर्जन भी किया गया है। दिवाशयन का निषेध आयुर्वेदीय ग्रन्थ भी करते हैं।[8] प्राण अपान, व्यान, उदान और समान नाम पंच प्राणों का भी इस प्रकरण में उल्लेख प्राप्त होता है।[9]

उपनयन प्रकरण में एक स्थल पर ऐसा विधान किया गया है कि ब्रह्मचारी तीन दिन तक क्षार का लवण रहित भोजन करे।[10] क्षार व लवण के अधिक सेवन से विभिन्न प्रकार के रोगों

---

1. 'त्रयो उपस्तम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति' – च०सं०सू०स्था०अ० 11/35
2. गो०गृ०सू० 2/10/10
3. सू०स्था०अ० – 5
4. जै०गृ०सू० 11/13, गो०गृ०सू० 2/10/24
5. शा०स्था०अ० – 7/6
6. गो०गृ०सू० – 2/10/15
7. गो०गृ०सू० – 2/10/30
8. च०सं०सू०स्था०अ० 30/21
9. गो०गृ०सू० पृ०सं० – 483
10. गो०गृ०सू० 2/10/43

की उत्पत्ति आयुर्वेदीय ग्रन्थों में बतलाई गयी है। उदाहरणार्थ लवण के अधिक सेवन से पित्त का प्रकोप, उच्च रक्तचाप, पिपासा, मूर्छा, शारीरिक ताप वृद्धि, त्वचा में विदार, मांसपेशियों का विकृत होना, कुष्ठरोग होने पर मांसों का गलना, विषवर्द्धन, शोथ फाड़ना, दाँतों का नष्ट होना, पुरूष शक्ति का नष्ट होना, इन्द्रियों की शक्ति कम होना, बिना समय के झुर्रियों का पड़ना, बालो का गिरना, रक्त पित्त, अम्लपित्त, विसर्ग, वातरक्त, आदि विकरों की वृद्धि।[1]

इसी प्रकार क्षार का भी अधिक सेवन हानिकारक बतलाया गया है। उदाहरणार्थ – केशों का गिरना, दृष्टि का कम होना, हृदय और पुंसत्वशक्ति का नष्ट होना आदि।[2] इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर तीन दिन तक क्षार व लवण रहित भोजन करने का विधान उपनयन प्रकरण में किया गया है। तीन दिन तक क्षार व लवण रहित भोजन का करना उसकी सीमित मात्रा को द्योतित करता है। इन्हीं भावनाओं से भावित होकर ही आचार्य मनु इस संस्कार के विषय में कहते है कि इस संस्कार से मनुष्य का ऐहिक और परलौकिक जीवन पवित्र होता है।[3] इस प्रकार उसे संस्कार की महनीय उपादेयता स्वयं सिद्ध है।

समावर्तन –[4]

ब्रह्मचारी जब शिक्षा समाप्त कर अपने घर जाता था, तब इस संस्कार को किया जाता था। समावर्तन शब्द का अर्थ है वेदाध्ययन के अनन्तर गुरूकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन।[5]इस संस्कार के पहले केशान्त या गोदान संस्कार भी किया जाता था, लेकिन सामवेदीय गृह्यसूत्रों में गोदान को पंचव्रतों के अन्तर्गत ही समाहित कर लिया गया है। यह संस्कार ब्रह्मचर्य की समाप्ति व गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए कड़ी का काम करता है।

---

1. *च०सं०सू०स्था०अ० – 26*
2. *च०सं०वि०स्था०अ०1*
3. *मनुस्मृति – 2/26*
4. *जै०गृ०सू० पृ०सं० 17, गो०गृ०सू० पृ०सं० 619*
5. *वी०मि०सं०भा०1 पृ० 564, हि०सं० – डॉ० राजबली पाण्डेय पृ० 187 के आधार पर*

इस संस्कार में स्नान करते समय जल में विविध औषधियों को मिलाने का विधान किया जाता है जैसे – कूट, जटामांसी, हल्दी, वच, शिलाजीत, लालचन्दन और भद्रमुस्ता।[1] इन औषधियों का प्रयोग स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर किया गया है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में स्नान के अनेक लाभ बतलाये गये हैं।[2]

ब्रह्मचर्य काल में जो दाढ़ी बाल मूँछ आदि बढ़ाये गये थे उनको इस संस्कार में कटवाने का विधान किया गया है।[3] आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इनके कटवाने के विषय में कहा गया है कि –

पौष्टिकं .... सम्प्रसांधनम्।"[4]

अर्थात् केश, श्मश्रु, नखादि के काटने और उनकी सजावट करने से शरीर पुष्ट होता है। यह कामोद्दीपक और आयु के लिए हितकर, पवित्रता को उत्पन्न करने वाला और स्वरूप को निखारने वाला होता है।

इस संस्कार में संस्कार्य को विविध पुष्पमालाओं और अलंकारों से अलंकृत करने का विधान किया गया है।[5] यह विधान भी आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। चरक संहिता का इस सन्दर्भ में कहना है कि – वृष्यं .... निषेवणम्[6] अर्थात् केशरादि सुगन्धित द्रव्यों से युक्त चन्दन लगाने एवं सुगन्धित पुष्प मालाओं को धारण करने से शरीर में वृष्यता आती है, सुगन्धि बढ़ती है और आयु का हित होता है। सौन्दर्य वृद्धि, शरीर पुष्टि, बल वृद्धि व मन प्रसन्न रहता है। इससे शरीर की अशोभा भी विनष्ट होती है।

---

1. द्रा0 व खा0गृ0सू0 2/1/6, गो0गृ0सू0 3/4/10
2. च0सं0सू0स्था0अ0 – 5
3. जै0गृ0सू0 1.7/9-10, द्रा0 व खा0गृ0सू0 2/1/31, गो0गृ0सू0 3/4/23
4. च0सं0सू0स्था0अ0 – 5
5. गो0गृ0सू0 – 3/4/24
6. सू0स्था0अ0 – 5

इस संस्कार में छत्र व छड़ी धारण करने का भी विधान किया गया है।[1] छड़ी धारण करने के लाभों का वर्णन तो उपनयन प्रकरण में किया जा चुका है। छत्र धारण के भी अनेक लाभ है। चरक संहिता का इस सन्दर्भ में कहना है कि –'ईते मुच्यते।[2] अर्थात् छत्र धारण करने से भविष्य में होने वाले रोगों की शान्ति हो जाती है, बलवृद्धि व भूतप्रेतादि से रक्षा होती है। यह शरीर का आवरण करने वाला एवं कल्याणकारी होता है। इसके रहने से धूप, धूलि और पानी से रक्षा होती है। छत्र धारण करने के प्रसंग में सुश्रुत–संहिता का कहना है कि – वर्षा ....छत्रधारणम्।[3] अर्थात् छत्र वर्षा, धूप हिमादि का निवारक, आँख के लिए लाभप्रद, कल्याणकारी आदि होता है।

समावर्तन के व्यतीत हो जाने पर स्नातक के लिए पालनीय नियमों का विधान किया गया है[4]

वे आयुर्वेद के 'सद्वृत्त'[5] से पूर्णतया ओत – प्रोत है।

जब हम हिन्दू समाज की धार्मिकता का विश्लेषण करते हैं तो हमारे सामने तीन मार्ग आते हैं – कर्मकाण्डपरक, उपासनापरक तथा ज्ञानकाण्डपरक। संस्कारों का सम्बन्ध तो इन तीनों धाराओं से है, लेकिन कर्मकाण्ड से विशेष। अगर हम गहनता से विचार करे तो कर्मकाण्ड, उपासना व ज्ञानकाण्ड का ऊत्स है। कर्मकाण्ड के माध्यम से व्यक्ति के चित्त की शुद्धि होती है, जिससे सम्पूर्ण क्रियाएं निर्बाध रूप से चलती है।

इन विश्लेषणों से यह स्वयमेव स्पष्ट होता है कि संस्कारों ने मानव जीवन को परिष्कृत किया है। व्यक्ति के अध्यात्मिक और भौतिक गतिरोधों को समाप्त कर जीवन को सरलगति प्रदान करना ही संस्कारों का प्रमुख उद्देश्य है। गर्भाधान, पुंसवन, व सीमन्तोन्नयन संस्कार यौन विज्ञान से सम्बन्धित है। ये प्रजनन शास्त्र के ज्ञान से भी युक्त है। उपनयन, विवाह व समावर्तनादि शैक्षिक व सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार से संस्कार वैज्ञानिकता से परिपूर्ण हैं। संस्कारों के ही द्वारा लोगों के जीवन में स्थायित्व आ सकता है, इस तरह के व्यक्ति के जीवन के शाश्वत सत्य हैं।

---

1. *गो0गृ0सू0 – 3/1/27*
2. *सू0स्था0अ0 – 5*
3. *चि0स्था0अ0 – 24*
4. *जै0गृ0सू0 18/4, द्रा0 व खा0गृ0सू0 3/1/31–41, गो0गृ0सू0 3/5*
5. *च0सं0सू0स्था0अ0 – 8*

सामवेदीय गृहय सूत्रों के विभिन्न पक्षों का
समीक्षात्मक अध्ययन

पंचम अध्याय

अन्य समीक्षाएं

अन्य समीक्षाएं -

मनुष्य जीवन के चार उद्देश्य हैं, जिन्हें चार पुरूषार्थों के नाम से जाना जाता है – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। शरीर ही धर्म का साधन है। बिना शरीर के स्वस्थ्य रहे इन उद्देश्यों की पूर्ति नही की जा सकती। चरक संहिता का इस सन्दर्भ में कहना है कि –

"धर्माथ काममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसोजीवनस्य च।।"[1]

दैनिक कार्यों को समुचित ढ़ंग से करते हुए, दिन, रात्रि व ऋतुओं में कहे गये शास्त्र सम्मत नियमों का पालन करते हुए, समुचित ढ़ंग से आहार विहार करते हुए जो व्यक्ति अपना जीवन यापन करते हैं स्वस्थ्यलाभ करते हुए दीर्घायु होते हैं। चिकित्सा शास्त्रों के सर्वदा ये ही लक्ष्य होते है कि स्वस्थ्य व्यक्ति को स्वस्थ रखा जाय और अस्वस्थ के स्वास्थ को ठीक किया जाय। इसी भावना को चिकित्साशास्त्र में 'स्वस्थवृत्त' नाम से जाना जाता है। 'स्व+स्थ' से बने हुए स्वस्थ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है व्यक्ति का अपनी प्राकृतिक स्थिति में बना रहना। जब व्यक्ति का शरीर तथा मन दोनो स्वस्थ हों तभी वह स्वस्थ्य कहलाता है। चिकित्सा शास्त्र में स्वास्थ्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि –

"समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वास्थइत्यभिधीयते।।[2]

(वात पित्त व कफ) जठराग्नि रक्तादि सातो धातुयें उचित मात्रा में विद्यमान हो, जिसकी आत्मा, मन तथा इन्द्रियाँ प्रसन्न हो, वह व्यक्ति स्वस्थ्य होता है।

संसार में अनमोल इस स्वास्थ्य की रक्षा के लिए निम्न कार्यों का करना अत्यावश्यक होता है – सन्ध्यावन्दन, प्राणायाम, चित्त की प्रसन्नता सूर्य की किरणें, हवन, द्वेष, इर्ष्या आदि मानसिक विकारों से छुटकारा, वाणी, मन तथा नेत्रादि इन्द्रियों पर नियंत्रण, ब्रह्मचर्य पालन, सुगन्धित पदार्थों का सेवन, स्वच्छता आदि।

---

1. च0सं0सू0स्था0 1/15
2. सु0सं0सू0स्था0 15/33

पिछले अध्याय में हमने देखा कि सामवेदीय गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों के विधानों की बड़ी महनीय उपयोगिता है। हम इस अध्याय में अभी – अभी वर्णित 'स्वास्थ्य' को आधार मानकर संस्कारों से अतिरिक्त अन्यावशिष्ट जो गृह्यकर्म हैं उनकी समीक्षा करेगें।

शौच, दन्तधावन, अभ्यंङ, व्यायाम, स्नान, आहार – विहारादि जो कार्य सुबह जागने के बाद से लेकर रात्रि में सोने के पहले किये जाते हैं, चिकित्साशास्त्र में इन सभी को 'स्वस्थ्यवृत्त' के अन्तर्गत रखा है। इसी के ही अन्तर्गत रात्रि के समय भोजन, मैथुन निद्रा, पठन – पाठन और मार्ग गमन आदि कार्य भी आते हैं। रात्रिविहित कार्यो को सायंकाल में नही करना चाहिए, जैसे सायंकाल के समय भोजन करने से अनेक व्याधियॉ उत्पन्न होती हैं। इस काल में मैथुन करने से गर्भ विकृत हो जाता है। इसी काल में यदि व्यक्ति शयन करता है तो वह दरिद्र हो जाता है। पठन –पाठन से आयु की हानि होती है और मार्ग गमन करने से सर्वथा भय बना रहता है।

इन वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि आरोग्य, प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के जो उपाय चिकित्साशास्त्र में वर्णित हैं वे सभी स्वस्थ्यवृत्त की कोटि में आते हैं। बाल्यावस्था से प्रारम्भ कर वृद्धावस्था पर्यन्त, दैनिक कार्यों से लेकर मासिक व़ वार्षिक पर्यन्त, आहार विहारादि के वर्णन इसी 'स्वस्थ्यवृत्त' के अन्तर्गत ही आते हैं।

'स्वस्थ्यवृत्त' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है 'सद्वृत्त'। चरक–संहिता में सद्वृत्त का वर्णन किया गया है।[1] चरक संहिता में सद्वृत्त का जो रूप प्रदर्शित किया गया है,वह धर्मसूत्रों, स्मृतियों व गृह्यसूत्रों में भी उपलब्ध होता है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में कहॉ – कहॉ 'सद्वृत्त' की शिक्षायें दी गयी है। इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं –

सद्वृत्त –

अच्छा आचरण सद्वृत्त कहलाता है। गौ, ब्राह्मण, देवता, गुरू, वृद्ध, सिद्ध एवं आचार्य की अर्चना, अग्नि – उपासना, प्रातः मध्यान्ह एवं सायंवन्दन, अच्छी औषधियों का धारण, पैरों एवं गुप्तांगों की स्वच्छता, केश, दाढ़ी, रोम एवं नखों को पन्द्रह में कम से कम एक बार स्वच्छ करना, प्रत्येक दिन स्नान एवं अहत वस्त्रों का धारण, सर्वदा प्रसन्नचित्त रहना, सुगन्धित द्रव्यों को

1. सू0स्था0अ0 – 8

धारण करना, नाक, कान व मस्तक पर प्रत्येक दिन तेल लगाना, प्रत्येक दिन बालों में कंघी करना, ऋतुचर्या में कथित प्रायोगिक धूम्र का पान करना, कोई मिलने आये तो उससे प्रेम से बोलना।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनुपालन -

उपर्युक्त नियमों के पालन के विधान विभिन्न प्रकरणों में दिये गये हैं। स्नातक के लिए विभिन्न नियमों का निर्देश गोभिल गृह्यसूत्र में किया गया है।[1] इस प्रकरण में स्नातक को वृद्धशीली होने का निर्देश दिया गया है।[2] वृद्धशीली होने का तात्पर्य है – अपने से बड़ों, देवता, ब्राह्मण एवं सिद्ध पुरूषों की सेवा करना। अपने घर में अग्नि – स्थापित करके प्रतिदिन उसमें तीनों प्रहर हवन करना अग्नि उपासना ही है। आश्वयुजीकर्म[3] में लाक्षामय मणियों तथा सर्वोषधि को बाहु में बॉधने का विधान हे।[4] यह उत्तम औषधियों को धारण करना है। गोदानव्रत[5] में तीनो प्रहर स्नान करने का विधान किया गया है।[6] औपासन कर्म [7] में सायं प्रातः होम तथा सन्ध्यावन्दनादि के विधान किए गये हैं। सम्पूर्ण कर्मो के प्रारम्भ में स्नान शरीर की स्वच्छता को ध्यान में रखकर किया गया है। बालों की सफाई व सजाने के कार्य का उल्लेख हमें समावर्तन संस्कार में प्राप्त होता है।[8] हर गृह कर्म के प्रारम्भ में नये वस्त्रों को धारण करने के विधान हैं, अतः यह सद्वृत के अहतवस्त्र धारण करने की ही पुष्टि को करता है। गृहस्थ जीवन में इत्र धारण का भी विधान किया गया है। 'अर्हण कृत्य'[9] सद्वृत्तीय आतिथ्य सत्कार का ही रूप है।

---

1. गो०गृ०सू० पृ०सं० - 633
2. गो०गृ०सू० - 3/5/1
3. गो०गृ०सू० पृ०सं० - 672
4. गो०गृ०सू० - 3/86
5. गो०गृ०सू० पृ०सं० 509
6. गो०गृ०सू० 3/1/18 तथा 27
7. गो०गृ०सू० पृ०सं० 45, जै०गृ०सू० पृ० 24, द्रा० व'खा०गृ०सू० पृ०सं० 37
8. द्रा० व'खा०गृ०सू० 3/1/21, जै०गृ०सू० 17/10, गो०गृ०सू० 3/4/23
9. द्रा० व खा०गृ०सू० 152, गो०गृ०सू० पृ० 873

सद्वृत्त –

चरक संहिता के सूत्रस्थान अध्याय एक के ~~ही~~ अर्न्तगत वर्जित स्वस्थवृत्त के अन्तर्गत वर्णित सद्वृत्त में और भी पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते है जैसे – प्रसन्न मुद्रा में रहना, दूसरे पर आपत्ति आ जाने पर दयाभाव रखना, यज्ञ तथा हवनादि करना, यथाशक्ति दान देना, चौराहे को नमस्कार करना, कौआ, कुत्ता आदि को बलि प्रदान करना, आतिथ्यसत्कार करना, पिण्ड पितृ यज्ञ करना, समयानुसार थोणी व सारगर्भित वाणी बोलना, धर्मात्मा तथा इन्द्रियवशी होना। ईर्ष्यालु स्वभाव का न होना, बुद्धिमान, उत्साही, सलज्ज, क्षमाशील व आस्तिक प्रकृति का होना चाहिए। विद्वान एवं विनम्र होना चाहिए। अभिजन, अवस्था में वृद्ध एवं सिद्ध तथा आचार्यों की सेवा करनी चाहिए। मार्ग गमन करते समय सिर पर पगड़ी, छत्र एवं दण्ड को धारण करना चाहिए। मांगलिक कार्यों में लीन होना चाहिए। गन्दे वस्त्र, हड्डी, काँटा अपवित्र केश, भस्म, कपाल, स्नान व बलि चढ़ाने योग्य स्थानों का त्याग करना चाहिए। सभी लोगों के साथ भाई चारे का व्यवहार करने वाला, भयातुर व्यक्ति को आश्वासित करने वाला, दीन दुखियों का उपकारक, सत्यप्रतिज्ञ, शान्ति प्रदाता, सहिष्णु, शान्ति स्वभाव वाला, रोग एवं दोषादि को उत्पन्न करने वाले कारणों को त्याग करने वाला होना चाहिए।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनुपालन –

पूर्व कथित सदवृत्त सम्बन्धी नियमों का सामवेदीय गृह्यसूत्रों में पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होते हैं। प्रसन्नता के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है कि प्रवास के पश्चात् गृहागमन करने पर गृहस्वामी को मूर्घाभिघ्राण[1] कर्म में शिखा को ज्येष्ठक्रमानुसार सूँघने का विधान है। यह प्रसन्नता का जनक माना जा सकता है। औपासन कर्म में प्रतिदिन हवन करने तथा दर्शपौर्णमास[2] के अर्न्तगत यज्ञ करने का विधान सद्वृत से तारतम्य मिलाये हुए हैं। सद्वृत्त में दान देने की क्रिया को महत्त्व प्रदान किया गया है, तो सामवेदीय गृह्यसूत्र सभी गृह्यकर्मों की समाप्ति पर दान देने का विधान करते हैं। दान के साथ – साथ भोजन के भी प्राविधान किए गये हैं। वैश्वदेव

---

1. *जैठगृ0सू0 7/17, द्रा0 व खा0गृ0सू0 2/3/13, गो0गृ0सू0 2/8/21*
2. *द्रा0 व खा0गृ0सू0 पृ0सं0 47, गो0गृ0सू0 पृ0सं0 137*

बलिहरण[1] में कुत्तों कौओं आदि को बलि प्रदान करने के विधान हैं। पिण्ड पितृ यज्ञ[2] के अन्तर्गत पितरों को पिण्ड प्रदान करने का विधान है। इन्द्रिय नियमन व ब्रह्मचर्य पालन के विधान को स्नातक के नियमों[3] का उल्लेख करते समय किया गया है। गृहस्थ जीवन में प्रवेश के समय छत्र व दण्ड धारण करने का विधान किया गया है।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण सामवेदीय गृह्यसूत्र आस्तिक व धार्मिक भावना से परिपूर्ण हैं। विश्वबन्धुत्व का जो स्वरूप वैदिक मंत्रों में है, उसका निर्वाह परवर्ती साहित्य गृह्यसूत्रों में भी किया गया हैं। मनुष्यों के स्वागत की बात तो छोड़ दीजिए, चूहों, चीटियों, सर्पों आदि को बलि प्रदान करने व उनके साथ दयादि भावनाओं का द्योतन किया गया है।

सद्वत्त (अकरणीय कार्य) –

मिथ्या भाषण, दूसरों के धन या अधिकार को लेना, दूसरे की स्त्री के साथ सम्भोग या उसकी इच्छा आदि कार्यों को कभी भी न करें। शत्रु भावना से अलग रहें, पापी के साथ भी पाप का व्यवहार न करें, दूसरे में दोष न देखें, दूसरों की गुप्त बातों को जानने की चेष्टा न करें , अधार्मिक राजा, पागल, शत्रु, भ्रूण हत्यारे शुद्र व दुष्ट व्यक्तियों के साथ कभी न बैठें, जानु से कम ऊँचे व कठोर आसन पर न बैठें, जिस शैया पर तकिया न रखी हो तथा विस्तर न बिछा हो उस पर शयन न करें, पर्वत की ऊँची ऊँची चोटियों पर भ्रमण न करें, पेड़ पर न चढ़े, तीव्र वेग वाले जल में घुसकर स्नान न करें, नदी के कगार की छाया में न बैठें आग लगे हुए स्थान के चतुर्दिक भ्रमण न करें, बहुत जोर से न हँसें, शब्द युक्त अपान वायु का त्याग न करें, मुख को बिना ढ़के हँसी, छींक, या जम्हाई न लें, नासिका को अंगुली से न कुरेदें, दाँत न किटकिटायें, हड्डियों को परस्पर न रगड़ें, नाखून से भूमि को न खुरेदें, दाँत से तृण को न काटें, अपने अंगों से विकृत चेष्टाएं न करें। अधिक चमकने वाले सूर्यादि तथा अपवित्र अप्रिय एवं अप्रशस्त पहलुओं को न देखें, चैत्य, ध्वज, गूढ़ तथा अन्य पूज्य एवं अप्रशस्त वस्तुओं की छाया को न लाँघें, रात्रि के समय चैत्य, वृक्ष,

---

1. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 71
2. जै0गृ0सू0 पृ0सं0 27व28, द्रा0 व खा0गृ0सू0 पृ0सं031,गो0गृ0सू0पृ0सं0 775
3. गो0गृ0सू0 पृ0सं0 633
4. जै0गृ0सू0 18/2, द्रा0 व खा0गृ0सू0 3/1/24, गो0गृ0सू0 3/4/26

देव – मन्दिर, यज्ञभूमि, चौराहे उपवन श्मशान एवं बधस्थान में निवास न करें। अकेले खाली घर या जंगल में न जाँय, पापरत स्त्री, मित्र एवं नौकरों को न रखें, उत्तम लोगों से विरोध न करें, नीच पुरुषों के साथ न रहें, कुटिल कर्मों में प्रेम न रखें, दुष्ट स्वभाव वाले लोगों के आश्रय में न रहें, लोगों को भयभीत न करें, अत्यधिक साहस, शयन, जागरण – स्नान जल या मदिरापान भोजन कदापि न करें, घुटने का आश्रय ले अधिक देर तक न बैठें, हिंसक जीव जन्तुओं के पास न जाँय, दन्त प्रहार करने वाले जैसे सर्पादि तथा सींग से प्रहार करने वाले जैसे गौ आदि के पास न जाँय, सम्मुख आने वाली तेज हवा, धूप व आधी का सेवन न करें, कलह का प्रारम्भ न करें, अग्नि की उपासना बिना मन की एकाग्रता न करें, अग्नि को जूठे मुख नीचे रखकर न तापें, शरीर की थकान दूर किए बिना, मुख धोए बिना तथा नग्न होकर स्नान न करें, जिस कपड़े को पहनकर स्नान किया गया हो उस कपड़े से सिर न पोछें, केशाग्रों को हाँथों से न फटकारें, स्नान के बाद खोले गये धोती, गमछे को पुनः न धारण करें, रत्न, घृत, पूज्य मांगलिक द्रव्य तथा पुष्पादि का बिना स्पर्श किए घर के बाहर न निकलें, तथा पूज्य देवता, गुरु आदि एवं मांगलिक पदार्थों के दाँहिने भाग में होकर तथा अपूज्य एवं अमांगलिक पदार्थों के बाँए भाग में होकर न चलें।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनुपालन –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में सत्य भाषण पर विशेष बल दिया गया है। विवाह प्रसंग में बतलाया गया है कि सर्वलक्षण सम्पन्न स्त्री के साथ ही सम्भोग करें।[1] दूसरे की स्त्री के साथ रति कार्य को भी निषिद्ध कहा गया है।[2] मनुष्यों के साथ शत्रुता की बात तो दूर रही, सामवेदीय गृह्यसूत्रों में पशुओं व जानवरों के साथ भी अच्छे बर्ताव की बात कही गई है। भ्रूण हत्या का भी निषेध सामवेदीय गृह्यसूत्रों में है, इसीलिए कन्या के मासिक धर्म शुरु होने के पहले ही उसके विवाह करने का विधान किया गया है।[3] अर्हणकार्य में शैया को पूर्णरूप से सुसज्जित करने की बात कही गयी है।[1] वृक्षों पर न चढ़ने का विधान स्नातकों के नियमों के विधान के समय किया

---

1. *जै०गृ०सू० 19/11–12, गो०गृ०सू० 2/1/2*
2. *गो०गृ०सू० पृ०सं० 191 (परदारगमन का निषेध)*
3. *जै०गृ०सू० 19/11, गो०गृ०सू० 3/4/5*
4. *जै०गृ०सू० 18/6, गो०गृ०सू० पृ०सं० 873*

गया है।[1] सद्वृत्त के अन्तर्गत अत्यन्त तेज वेग वाले जल में न घुसने का विधान है, इसी भावना से भावित आदित्य व्रत में जंघों से ज्यादा जल में न प्रवेश करने से है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में तो कुटिल भावनायें कहीं स्पर्श भी नही कर पाई हैं। "बसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना पग – पग पर विद्यमान है।

सद्वृत्त (भोजन के परिप्रेक्ष्य में)

भोजन किस प्रकार करना चाहिए इस सन्दर्भ में सद्वृत्त प्रकरण में कहा गया है कि हाथ में बिना रत्न धारण किए, बिना स्नान किए, बिना फटे हुए वस्त्रों को पहनकर, बिना गायत्री आदि मंत्रों का जप किए, बिना हवन किए, बिना देवताओं को अर्पित किए, माता – पिता को भोजन कराए बिना, गुरु, अतिथि व आश्रितों को भोजन कराये बिना, बिना सुगंधित इत्र लगाये, बिना चन्दनादि तथा मालाधारण किए, हाथ, पैर मुखादि को धोये बिना, बिना उत्तराभिमुख हुए, बिना मन के अथवा उदास मन से भोजन नही करना चाहिए। अपने से प्रेम न करने वाले, शत्रु, उद्दण्ड, अपवित्र पात्र मे रखे गये, अनुचित अथवा संकीर्ण स्थान में रखे गये, अग्नि में बिना हवन किए गये, धोने योग्य होने पर भी बिना धोये गये बिना मंत्र के अभिमंन्त्रित किए गये तथा स्वतः भोजन की निन्दा करते हुए उसे ग्रहण नही करना चाहिए। निन्दित अन्न का भोजन नही करना चाहिए। मांस, अदरक, सूखे साग, फलादि को छोड़कर बासी पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। दधि, नमक, सत्तू और घृत को छोड़कर भोजन पात्र में परोसे हुए आहार पदार्थ का भक्षण सम्पूर्ण रूप से नहीं करना चाहिए। रात्रि में दधि न खाये। अधिक मात्रा में, दो बार, बीच–बीच में जल पीते हुए एवं दाँत से काटकर सत्तू का सेवन नहीं करना चाहिए।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनुपालन –

पूर्वकथित भोजन सम्बन्धी नियमों के पर्याप्त निर्देशन सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी उपलब्ध होते हैं। भोजन करते समय रत्नधारण करना चाहिए, इसके परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते समय रत्नों को धारण करने का विधान किया गया है, जिसे

---

1. जै०गृ०सू० 18/6, गो०गृ०सू० 3/5/31

सर्वथा धारण करना चाहिए।[1] इसी समय से रत्न, रत्नमयी मालाओं व सुगन्धित द्रव्यों को धारण करने का विधान किया गया है। स्नानोपरान्त सायं व प्रातः हवनादि कार्यों को करने का विधान किया गया है।[2] इस कार्य को जीवन पर्यन्त करने का प्रतिपादन है। प्रातः स्नान करने के कारण भोजन से पूर्व स्नान स्वयमेव सिद्ध है। महानाम्निक व्रत में भी भोजन से पूर्व स्नान का निर्देश है।[3] स्वच्छ व न फटे हुए वस्त्रों का विधान तो प्रत्येक सामवेदीय गृह्यसूत्र में है। औपासन कर्म में गायत्री मंत्र का जप व सायं प्रातः होम का विधान है।[4] स्नातक के नियमों का निर्देश करते समय वृद्धशीली होने का निर्देश दिया गया है, जिससे सर्वप्रथम उनको भोजनादि का प्रबन्ध सिद्ध हो जाता है।[5] इसी प्रकरण में द्विपक्व (दो बार पकाये गये), बासी तथा अशुद्ध स्थान से लाये गये भोजन का निषेध किया गया है।[6] दर्शपौर्णमास प्रकरण में सुपाच्य भोजन ग्रहण करने को कहा गया है।[7] उपाकर्म में तो दधि की प्रशंसा की ही गयी है।[8]

सद्वृत्त (स्त्रियों के साथ व्यवहार) -

स्त्रियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए? इस प्रकरण का विधिवत् निर्देश चरक – संहिता में सद्वृत्त के अन्तर्गत किया गया है। स्त्रियों को अपमानित न करें, उन पर अधिक विश्वास भी न करें, अतिगोपनीय बातों को स्त्रियों से न कहें, घर का पूर्ण अधिकार स्त्रियों को न देवें। कुछ स्त्रियों के साथ मैथुन वर्जित है जैसे रजस्वला, रोगिणी, अपवित्र, बुरे आचरण युक्त, कुरुप, गुण व आचरण विहीन, अलक्ष्य (मैथुन कर्म में चातुर्यरहित) अदाक्षिण (काम कला शून्य), मैथुन की इच्छा न रखने वाली पर पुरूष में अनुरक्त, दूसरे की स्त्री। रति क्रिया में कुछ स्थानों का भी निषेध किया गया

---

1. द्रा० व खा०गृ०सू० 3/1/336, गो०गृ०सू० 3/5/16
2. गो०गृ०सू० 1/3/14
3. गो०गृ०सू० 3/2/8
4. जै०गृ०सू० पृ० 24, द्रा० व खा०गृ०सू० पृ० 38, गो०गृ०सू० पृ० 45
5. द्रा० व खा०गृ०सू० 3/1/31, गो०गृ०सू० 3/5/1
6. जै०गृ०सू० 18/47-8, द्रा० व खा०गृ०सू० 3/1/36, गो०गृ०सू० 3/5/7-9
7. गो०गृ०सू० – 1/5/27
8. जै०गृ०सू० 14/14, द्रा० व खा०गृ०सू० 3/2/19, गो०गृ०सू० 3/327

है – अन्य योनि में, श्मशान, बधस्थान, जल के बीच में, उत्तम औषधियों, ब्राह्मणों, गुरूओं व देवताओं के स्थान में, प्रातः व सायं काल में एवं वर्जित तिथियों में। मैथुन क्रिया के लिए कुछ विशिष्ट परिस्थितियों का भी विधान किया गया है – मैथुनकर्ता का अपवित्र रहने पर, बिना वाजीकरण औषधियों को खाये, लिगोन्द्रिय के पूर्ण रूप से उठे बिना, भूखे, ज्यादा भोजन कर लेने पर टेढ़े अंग या टेढ़ी शैया पर, मलमूत्र के वेग से युक्त होने पर, उपवास, श्रम या व्यायाम से पीड़ित होने पर एवं एकान्त स्थान को प्राप्त किए बिना।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनुपालन –

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में प्रत्येक स्थल पर स्त्रियों के प्रति उदार भावनायें दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि प्रत्येक धार्मिक कृत्यों में स्त्रियों को पुरुषों के साथ समानरूप से भाग लेने का विधान किया गया है। विवाह[1] एवं गर्भाधान[2] प्रकरण में सद्वृत्त के उन – उन विधानों के सन्दर्भ में कथन है कि सम्भोग किस स्त्री के साथ, कैसे व किस स्थान में करना चाहिए?

सद्वृत्त (पूज्यों का आदर) –

सत्पुरूषों एवं गुरूजनों की कभी भी निन्दा नही करनी चाहिए। अपवित्र होने की स्थिति में इन कार्यों को न करें जैसे – अभिचार कर्म, चैत्य, वृक्ष तथा पूज्य देवी देवताओं की आराधना एवं अध्ययन।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनुपालन –

गुरूजनों के सन्दर्भ में महानाम्निक व्रत में आचार्य के प्रति विरोधरहित व्यवहार करने का निर्देश दिया गया है।[3] आप्तपुरूषों के व्यवहारों का अनुपालन करने का निर्देश स्नातक के नियमों का निर्देश करते समय किया है।[4] सद्वृत्त में कहा गया है कि अपवित्र होकर अभिचारादि

---

1. जै०गृ०सू० पृ० 19-24(विवाह में संक्षिप्त गर्भाधान), द्रा० व खा०गृ०सू० पृ० 18, गो०गृ०सू० पृ० 276
2. द्रा० व खा०गृ०सू० पृ० 36, गो०गृ०सू० पृ० 351-362
3. गो०गृ०सू० – 3/2/11
4. द्रा० व खा०गृ०सू० 3/1/31, गो०गृ०सू० 3/5/1

कार्य करे तो इन गृह्यसूत्रों में भी गृह्यकर्मों को प्रारम्भ करने के पहले स्नानादि द्वारा पवित्र होने के निर्देश दिये गये हैं।

सद्वृत्त (अध्ययनबाध)

अध्ययन करने का तरीका एवं कब – कब अध्ययन न करें, इस विषय में 'सद्वृत्त' में कहा गया है कि अकाल, विद्युत चमकने, समीप में आग लगने, भूकम्प, महान उत्सव, उल्कापात, सूर्यग्रहण, अमावस्या, सन्ध्याकाल में अध्ययन न करें। हीन वर्ण वाले गुरु से अध्ययन न करें। विकृत स्वर से, अनियमित, अतिशीघ्र अविलम्ब से उच्चारण करते हुए, अतिमन्द व अत्यन्त उच्च स्वर से अध्ययन नहीं करना चाहिए।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनुपालन -

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में इस विषय में अत्यन्त विस्तृत प्रकरण है। 'अनध्याय' प्रकरण[1] में इस विषय में इन सभी विधानों के निर्देश पूर्णरूपेण व विशरूपेण उपलब्ध होते हैं।

सद्वृत्त -

अपना अधिक समय व्यर्थ न करें, शास्त्रों के स्वयं के या संस्था के नियमों को भंग न करें। रात्रि में अथवा अनुचित स्थान में भ्रमण न करें। संध्या काल में अध्ययन, भोजन, मैथुन तथा शयन न करे। बालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख, दुःखी, जीवन व्यतीत करने वाले एवं नपुंसकों के साथ मित्रवत भाव न रखें। मदिरापान, द्यूतक्रीडा एवं वेश्यागमन में इच्छा न रखें। स्वयं की व दूसरों की गुप्त बातों को प्रकाशित न करें। किसी भी व्यक्ति को तिरस्कृत न करें। गौवों पर दण्ड से प्रहार न करें। वृद्ध गुरुओं व राजा पर आक्षेप न करें। अधिक बोलने वाला न होवें। प्रेमानुरक्त रहने वाले, भाई आपत्ति में सहायता करने वाले एवं अपनी गुप्तबातों को जानने वाले लोगों को अपने से दूर न रखें।

---

1. जै०गृ०सू० पृ० 15, द्रा० व खा०गृ०सू० पृ० 110–112, गो०गृ०सू० पृ० 572–584

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनुपालन -

सामवेदीय गृह्यसूत्र नियमों के अनुपालन के पक्षधर हैं। महानाम्निक व्रत के परिप्रेक्ष्य मे कहा गया है कि यदि कोई नियम दूसरी शाखा के विपरीत हो तो भी उसका परिपालन नहीं करना चाहिए। प्रत्येक सायंकाल में अकेले या शूद्र के साथ दूसरे गाँव मे न जाय, यह प्रकरण रात्रि भ्रमण का निषेध करता है।[1] सामवेदीय गृह्यसूत्र सायं शयन का भी निषेध करते हैं। इस विषय में कथन है कि यदि कोई सायंकाल में शयन करता है तो उसे प्रायश्चित करना चाहिए।[2] सायंकाल में केवल शयन का ही निषेध नही हैं बल्कि मैथुन का भी निषेध है जो गर्भाधान प्रकरण में है।[3] अनध्याय प्रकरण में सायंकाल में अध्ययन का भी निषेध किया गया है।[4] गोदान व्रत के अन्तर्गत मदिरा व मांसादि के भक्षण, का भी वर्जन किया गया है।[5] गायों के सन्तापों व कष्टों को दूर करने के लिए विविध कार्यों के उल्लेख सामवेदीय गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होते हैं।[6] मितभाषी होने का उल्लेख दर्शपौर्णमास प्रकरण में उपलब्ध होता है।[7]

सद्वृत्त (क्या - क्या न करें) -

अपने कार्य काल को निरर्थक बैठकर न व्यतीत करें, मन इन्द्रियों पर नियंत्रण रखें, बहुत देर तक शयन न करें, कार्यसिद्धि व असिद्धि में समभाव रखें, प्रकृति का स्मरण हमेशा करें, कारण हमेशा प्रभावी होते हैं इसका ध्यान रखें, कार्यफल मेरे अनुकूल होगा इस पर पूर्ण विश्वास कभी न करें, वीर्यनाश न करें, दूसरों के द्वारा किए गये अपमानों को कभी न भूलें।

---

1. जै०गृ०सू० 18/5-6, गो०गृ०सू० 3/5/32
2. गो०गृ०सू० 3/3/32
3. गो०गृ०सू० पृ०सं० 355
4. गो०गृ०सू० - 3/3
5. गो०गृ०सू० - 3/1/21
6. गो०गृ०सू० - पृ०सं० 648 - 655
7. गो०गृ०सू० - 1/5/25

सामवेदीय गृह्यसूत्रों मे अनुपालन –

उचित व अनुचित के विवेक के विषय में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विवेचन किया गया है। वास्तुपति यज्ञ[1] में भूमिचयन करते समय उचितानुचित के विवेक पर ध्यान दिया गया है। ऐसा ही प्रकरण विवाह प्रसंग में स्त्री लक्षण[2] का परीक्षण करते समय उपस्थित किया गया है। इन्द्रिय निग्रह का स्वच्छ रूप दर्शपौर्णमास प्रकरण में है। इसमें अष्टविध मैथुनों के त्याग का विवरण है।[3] दर्शपौर्णमास प्रकरण के ही अन्तर्गत मन की चंचलता पर भी अंकुश लगाने का विधान है। आहार निद्रा व ब्रह्मचर्य को शरीर का त्रिविध उपस्तम्भ माना गया है – "त्रय उपस्तम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति।" लेकिन इस विषय में यह संशोधनीय है कि दीर्घसूत्री होना भी शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित नहीं है, क्योकि "अति सर्वत्र वर्जयेत्।" महानाम्निक व्रत के परिप्रेक्ष्य में कहा गया है कि व्यक्ति को बैठकर ही रात्रि व्यतीत करना चाहिए।[4] क्रोध, हर्ष, ईर्ष्या आदि मानस विकृतियाँ हैं, इसीलिए सामवेदीय गृह्यसूत्रों में इन सबके साम्यावस्था पर ही बल दिया गया है। वीर्यनाश वर्णन के परिप्रेक्ष्य में सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी कथन किया गया है, इसीलिए केवल ऋतुकाल में गर्भाधान की इच्छा से ही स्त्री प्रसंग का विधान है।[5]

सद्वृत्त (हवन विधि) –

शरीर के अपवित्र रहने पर उत्तम गोघृत, अक्षत, तिल, कुश और सरसो आदि औषधियों से अग्नि में होम न करें और अग्रिम कथित आशीर्वादात्मक मन्त्रों द्वारा प्रतिदिन अपने शुभ की कामना करें–

1. अग्निर्मेनापगच्छेच्छरीरात्।
2. वायुर्मेप्राणानादधातु............।
3. विष्णुर्मेबलमादधातु ....।
4. इन्द्रो मे वीर्यशिवा ....।
5. आपोहिष्ठा ....।

---

1. गो०गृ०सू० पृ०सं० – 820
2. जै०गृ०सू० 19/11-12, गो०गृ०सू० 2/1/2
3. गो०गृ०सू० पृ०सं०– 191
4. गो०गृ०सू० 3/2/14, जै०गृ०सू० 15/2
5. गो०गृ०सू० पृ०सं०– 352

उपर्युक्त इन मंत्रों द्वारा जलमार्जन करें, बाद में दो बार दोनो होठों को जल से धोकर आचमन करें तथा पैरों को जल से धोकर मस्तक भाग में स्थित छिद्रों तथा अपने हृदय व शिर का क्रमशः जल से प्रोक्षण करें।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अनुपालन -

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में हवन विधि का सांगोपांग वर्णन है। अनिर्दिष्ट विधानों का निर्देश करते समय कथन किया गया है कि सभी गृह्यकर्मों के प्रारम्भ में यज्ञोपवीत धारण, पवित्रीकरण, मार्जन पवित्रीधारण एवं संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करना चाहिए। इन कार्यों को पूर्ण किए बिना किसी भी गृह्यकर्म में पूर्णता नही आती।

सद्वृत्त (उपसंहार) -

ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दया, हर्ष उपेक्षा और शक्ति इन क्रियाओं मे तत्पर रहें–

गृह्यसूत्रों में अनुपालन -

ब्रह्मचर्य जीवन का मूल है। अतः इसके पालन के लिए सर्वप्रथम नियम निर्दिष्ट है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में दर्शपौर्णमास[1], गोदानादि[2] विविध प्रकरणों में ब्रह्मचर्य पालन पर विशेष बल दिया गया है। इसीलिए सभी शास्त्रों में गृहस्थ जीवन के पहले ब्रह्मचर्य जीवन के प्रारम्भिक 25 वर्षो तक व्यतीत करने का विधान है। यही अवधि विद्याध्ययन का काल होता है।सभी गृह्यसूत्रों मे वर्णित गृह्यकर्मों की समाप्ति पर दान देने के विधान है।[3] स्नातक के नियमों का निर्देश करते समय अन्त में यह निर्देश दिया गया है कि – जो – जो भी शिष्ट लक्षण युक्त वेद शास्त्रों के अनुकूल व तर्कबल से उचित बातें सिद्ध हों उनका आचरण करना चाहिए।[4] इससे सद्वृत्त के अवशिष्ट जो अन्य नियम है, उन सबका समायोजन स्वयमेव हो जाता है।

---

1. द्रा० व खा०गृ०सू० पृ०सं० 47, गो०गृ०सू० पृ०सं० 137
2. जै०गृ०सू० पृ०सं० 15, गो०गृ०सू० पृ०सं० 507
3. गो०गृ०सू० - 1/1/5-6
4. गो०गृ०सू० - 3/5/38

उपवास –

उपवास का आयुर्वेद की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्व है। उपवास लंघन का एक महत्त्व पूर्ण अंग है। यदि किसी कारण भोजन में रूचि न हो तो व्यक्ति का लंघन कर देना चाहिए। इस प्रकार लंघन सर्वोत्तम रोग प्रतिरोध का आधार माना जाता है।[1]

लाभ –

जिस चूल्हे में अग्नि पर रखे हुए पाक – पात्र में जल, अन्न यदि डाला जाय तो उस अग्नि के प्रभाव से जल तन्दुलादि मुख्य रूप से परिपक्व होते हैं, पाक पात्र का दाह बहुत थोड़ा होता है। यदि पात्र में जल व अन्नादि न डाला जाय तो पाक पात्र ही जल जायेगा। इसी प्रकार यदि नित्य भोजन किया जाय तो जठराग्नि उस भोजन को पचाने मे लगी रहती है, शरीर का अत्यल्प शोष होता है, यदि भोजन न किया जाय तो जठराग्नि के बल से शरीर के अन्तःकरण का ही शोष होगा। परिणामस्वरूप अन्तःकरण में लगे हुए मल का ही शोषण होगा। इससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार उपवास अन्तःकरण के शोधन का प्रथम उपाय है। उपवास तप है। इसके द्वारा शुद्ध किए गये अन्तःकरण में बाहर के अनुकूल पदार्थों का आकर्षण व आधान हो सकेगा।[2]

उपवास इसी वैशिष्ट्य के कारण सामवेदीय गृह्यसूत्रों में इसको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। दर्शपौर्णमास[3], वैश्वदेवबलिहरण[4] एवं महानाम्निक व्रत[5] आदि व्रतों में इसका विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति हेतु क्षिप्र होम व जप की क्रियाओं जैसे पार्थिव

---

1. *का0चि0 – गंगासहाय पाण्डेय, पृ0सं0 125*
2. *वेदों में भारतीय संस्कृति – पं0 आद्याठाकुर पृ0सं0 276*
3. *द्रा0 व खा0गृ0सू0 2/1/4, गो0गृ0सू0 1/5/5*
4. *गो0गृ0सू0 पृ0सं0 119*
5. *गो0गृ0सू0 – 3/2/13*

कर्म[1], भौतिक वस्तुओं की भोग की इच्छार्थ[2], प्रभूतधन लाभार्थ[3], दीर्घायुप्राप्ति[4], ग्रामप्राप्ति[5] एवं स्वाधिपत्य की प्राप्ति[6] हेतु किए जाने वाले कार्यों में उपवास के विधान किए गये हैं।

होमों की आयुर्वैज्ञानिक समीक्षा -

लगभग प्रत्येक गृह्यकर्म में होम का विधान है। होमों की आयुर्वेद की दृष्टि से पर्याप्त महत्ता है। आज की परिस्थिति में सम्पूर्ण भूमण्डल रोग, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अन्नसंकट आदि अनेक समस्याओं से घिरा है। होमीय प्रक्रिया में भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार के तथ्यों का समावेश है। इस माध्यम से हम सम्पूर्ण भूमण्डल का कल्याण कर सकते हैं। होमों की विधियाँ व इनमें प्रयुक्त द्रव्यों का आज के वैज्ञानिक युग में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। आवश्यकता है आज इसके प्रचार व प्रसार की।

होम में प्रयुक्त उपकरणों में अग्नि प्रमुख है। अग्नि अनेक रोगोत्पादक कीटाणुओं को विनष्ट करता है। यजमान अग्नि के सम्मुख बैठकर होम करता है, इसलिए अनेक रोगोत्पादक कीटाणु ताप से स्वेदन क्रिया द्वारा नष्ट हो जाते हैं। होम के समय मंत्रोच्चारण व स्वाहाकार करते समय पुरोहित एवं यजमान को ध्वनि बाहर निकालनी पडती है, ध्वनि के साथ निकली हुई वायु की पूर्ति के लिए यज्ञीयवायु अन्तः प्रविष्ट होकर आरोग्य प्रदान करती है। अग्नि की इसी रोग नियामकता को ही देखकर सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अग्न्याधान प्रक्रियानुसार अग्नि को सदा अपने घर में प्रज्जवलित रखने का नियम बनाया गया है। औपासन कर्म या सायं प्रातः होम के माध्यम से होमों को प्रतिदिन करने का विधान किया गया है। इससे वायु व विशुद्धीकरण हो जाता है। होमों या यज्ञों पर प्रयोग भी किए गये हैं जो इस प्रकार है[7] –

---

1. गो०गृ०सू० - 4/5/23
2. गो०गृ०सू० - 4/8/28
3. गो०गृ०सू० - 4/6/13
4. गो०गृ०सू० - 4/8/11
5. गो०गृ०सू० - 4/8/15
6. गो०गृ०सू० - 4/9/1-4
7. वै०सं० - पं० वीरसेन वेदाश्रयी, पृ०सं० 202

1. जयपुर में फरवरी 1966 दिनांक 10 व 11 को एक महानुभाव को यज्ञ पर बैठाया गया। वे अपनी अस्वस्थता के कारण बैठने मे असमर्थ थे। उनके रोग का हाल भी पूछा नही गया था। प्रथम दिन दोनो समय कुल तीन घण्टा यज्ञ में बैठने के पश्चात् उनसे पूछा गया कि अब कैसी दशा है? तो उन्होंने बताया की कुछ ठीक है। दूसरे दिन भी दोनो समय उसी प्रकार यज्ञ में बैठाया गया व पुनः सायंकाल पूछा गया अब कैसी दशा है तो उन्होंने कहा कि अब बिल्कुल रोग नही है, पूर्ण स्वस्थ्य व प्रसन्न हूँ।
2. अहमदाबाद में फरवरी 1966 की 27 तारीख दिन रविवार को हृदय के एक रोगी पर प्रयोग दो घण्टा किया गया। रोगी की अपनी स्थिति में प्रसन्नता ही हुई और प्रतिकूलता अनुभव नही हुई। पश्चात् परिणामों की सूचना ज्ञात न हो सकी।
3. बम्बई में मार्च 1966 दिनांक 10 से 17 तक यज्ञ प्रातः सवा – सवा घण्टे का किया गया। रोगी की दशा हाँथ पाँव में सुन्नता व भारीपन रहता था। आठ दिन के प्रयोग से रोगी को 50 प्रतिशत का लाभ हुआ।
4. खण्डवा में 1966 की जुलाई 11 से 18 तक यज्ञ प्रातः मध्यान्ह एवं सायं डेढ़ – डेढ़ घण्टे तक किया गया। ऐसे रोगी को जिसकी टाँग की त्वचा में कृष्ण वर्ण का प्रसार था, यज्ञीय प्रयोग किया गया। 8 दिन के यज्ञ के बाद 80 प्रतिशत का लाभ हुआ।
5. इसी खण्डवा में एक व्यक्ति जिसकी दाहिनी हाथ की कनिष्ठिक अँगुली एक माह से टेढ़ी हो गयी थी, हथेली के पास का पोर्वा सूजा एवं कठोर था। आठ दिन के यज्ञ के बाद अंगुली सीधी हो गई और सूजन भी कम हो गया।

औषधियाँ –

रोग – नाशन व दीर्घायु प्राप्ति की दृष्टि से औषधियों की महत्वपूर्ण भूमिका है। ये औषधियाँ विभिन्न प्रकार की होती है जैसे – खनिज, वानस्पतिक, सामुद्रिक, प्राणिज इत्यादि। सामवेदीय गृह्यसूत्रों के अध्ययन से जिन – जिन औषधियों का उल्लेख मिला उन्हें हम इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं –

आज्य, लाजा, ओदन, दुग्ध, कोद्र, कुश, कदर, तिल्वक, बाधक, निम्ब, राजवृक्ष, कपित्थ, सर्षप, मूज, शण, शिलाजीत, बेर, कटहल, आग्र, सॉवॉ, दधि, यवागू, ब्रीहि, माष, उदक,

खैर, पलाश, विभीदक, नीव, शाल्मली, अरलु, गोधूम, तिल, कास, बॉस, लालचन्दन, कस्तूरी, लौहचूर्ण कोविदार, नारियल, श्लेष्मातक, अश्वत्थ, बलवज, सुरा, गूलर, पीपल, ऊन, भद्रमुस्ता, केशर, मधु, मुतवन, शमी, मुद्‌ग, चावल, कूट, हल्दी, वीरण, दुर्वा, पारिभद्र, शीर्य, स्वर्ण, उड़द, बिल्व, रेशम, कर्पूर, अपामार्ग, खादिर, लवण, ललुण्ठ, शालि, शलाटू, कर्पास, जटामांसी, वच, शिरीष।

दीर्घायुप्राप्ति –

मनुष्य दीर्घायु की प्राप्ति चाहता है। इसीलिए वह विविध प्रकार के यम व नियमों का पालन करता है। आयुर्वेद का भी लक्ष्य दीर्घायु की प्राप्ति ही है। इसीलिए इसी लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त शरीर के तीन उपस्तम्भ बताएं गए – आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य।[1]

शारीरिक संचालन की दृष्टि से आहार मनुष्य की प्रथम आवश्यकता है। कमनीय, घृतमिश्रित, और आसानी से पचने योग्य भोजन को ग्रहण करने का निर्देश दर्शपौर्णमास प्रकरण में उपवास के दिन के नियमों का निर्देश करते समय दिया गया है।[2] आयुर्वेदीय ग्रन्थों में आहार के विषय में विस्तृत उल्लेख प्राप्त होते हैं। चरक संहिता में संतुलित आहार के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है।[3] व्यक्ति को कितने आहार तत्वों की आवश्यकता होती है इसका वर्णन इस प्रकार है –

"षष्ठिकान् शालिमुदगांश्च सैन्धवामलकेयवान्।
आन्तरिक्षं पयः सर्पिः जांगलं मधु चाभ्यसेत्।।[4]"

षष्ठिशालि अर्थात कार्बोहाइड्रेट, मुद्‌ग अर्थात् प्रोटीन, सैन्धव अर्थात लवण, आमलक अर्थात विटामिन (सी), यव अर्थात सेलुलोज, आन्तरिक अर्थात शुद्ध जल, दुग्ध व घृत अर्थात स्नेह, मधु अर्थात् शर्करा आदि तत्त्वों के निर्देशं उपर्युक्त वाक्य में प्राप्त होते हैं।

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि अन्न मनुष्यों का प्राण है और जल जीवन। आयुर्वेद में शुद्ध जल के सेवन पर विशेष बल दिया गया है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में ज्येष्ठ सामिक व्रत के

---

1. च०सं०सु०स्था० 11/35
2. गो०गृ०सू० 1/5/27
3. च०सं०वि०स्था० 1/21
4. च०सं०सु०स्था० – 5/12

नियमों का उल्लेख करते करते समय शुद्ध जल सेवन पर बल दिया गया है कहा गया है कि वस्त्रपूत जल का सेवन करना चाहिए।[1]

दीर्घायुप्राप्ति के लिए आहार के बाद निद्रा का स्थान है। स्वस्थ्य रहने के लिए निद्रा का सम्यक् सेवन परमावश्यक होता है। मनोयुक्त इन्द्रियों का विषयों से मुक्त होना ही निद्रा कहलाता है।

दीर्घसूत्री व अल्पसूत्री होना स्वास्थ्य की द्रष्टि से उचित नही है। रात्रिजागरण केवल विशिष्ट अवसरों पर ही किया जाता था जैसे – महानाम्निक व्रत[2] आदि। सामान्य परिस्थितियों में रात्रिजागरण वर्जित है। दिवाशयन वर्जन गृह्यसूत्रों आयुर्वेदीय ग्रन्थों व धर्मसूत्रों में भी वर्जित है। इसीलिए सामवेदीय गृह्यसूत्र सूर्योदय के समय शयन करने पर उसका प्रायश्चित करने का विधान करते हैं।[3]

दीर्घायु के लिए तीसरा उपस्तम्भ ब्रह्मचर्य है। सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस ब्रह्मचर्य से दीर्घायु की प्राप्ति होती है। क्या आजन्म ब्रह्मचर्य रहने से दीर्घायु की प्राप्ति होती है? जन्म से शुक्र या रज पर नियंत्रण रखना ही ब्रह्मचर्य है। इसी ब्रह्मचर्य से दीर्घायु की प्राप्ति होती है, और यह ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण जीवन का प्रारम्भिक चतुर्थांश अर्थात 25 वर्ष तक ही माना जाता है। इसी काल में विद्याध्ययन भी किया जाता है। ऐसी ही अवधारणा सामवेदीय गृह्यसूत्रों की भी है। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करते हुए समावर्तन संस्कार करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश का विधान है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। गोभिल गृह्यसूत्र में कहा गया है कि केवल ऋतुकाल में ही स्त्रीसमागम ब्रह्मचर्य की कोटि में आता है।[4] जितनी सम्भोग क्रिया से मन और शरीर में स्थैर्य बना रहे, उतना ही सम्भोग उचित माना है। बहुत अधिक शुक्र का भी निरोध करना आयुर्वेदीय ग्रन्थों में अनुचित बतलाया गया है। इसमें कारण दर्शाया गया है क्लीवत्व का उत्पन्न होना। दर्शपौर्णमास[5] गोदान[6] आदि विधानों में ब्रह्मचर्य पर

---

1. गो०गृ०सू० –3/2/52
2. गो०गृ०सू० – 3/2/14
3. गो०गृ०सू० – 3/3/32
4. गो०गृ०सू० – पृ०सं० 352
5. गो०गृ०सू० – पृ०सं० 191
6. गो०गृ०सू० 3/1/15 तथा 24

विशेष बल दिया गया है। क्षिप्रहोम व जप के अर्न्तगत 15 दिन उपवास पूर्वक "ऊँ आकूतो देवीम्"[1] मंत्र द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए आहुति प्रदान करने की क्रिया विधान है।

सुख प्रसव –

प्राचीन काल में जब जनसंख्या अत्यल्प थी तब सन्तानोत्पत्ति का विशेष महत्त्व था। सन्तानोत्पत्ति में माँ को विशिष्ट प्रसव पीड़ा सहन करनी पड़ती है। इस प्राकृतिक कष्ट के न्यूनीकरणार्थ आयुर्वेदीय ग्रन्थों में गर्भिणी की मासानुमासिकचर्या का वर्णन किया गया है, जैसे गर्भिणी प्रथम, द्वितीय व तृतीय मास में मधुर व शीतल आहार का सेवन करें। तृतीय मास में विशेषकर साठी का चावल दूध के साथ ग्रहण करें, क्योंकि प्रायः इन्हीं महीनों में गर्भस्राव होता है। साठी का ही चावल चौथे मास में दही के साथ, पाँचवे मास से दूध के साथ और छठें मास में घृत के साथ ग्रहण करें।[2] ऐसा आहार गर्भिणी के स्वास्थ्य को अनुकूल बनाता है। अनुकूल स्वास्थ्य से सुख प्रसव होता है। सुख प्रसव का उल्लेख अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है। इसके लिए योनिभेदन का उल्लेख मिलता है।[3] सामवेदीय गृह्यसूत्रों का भी इस विषय में अभिमत है। आसन्नप्रसवा वधू के सुख प्रसव के लिए सोष्यन्ती होम का विधान किया गया है।[4] आयुर्वेदीय ग्रन्थों में विधान है कि गर्भस्थ बच्चे के मृत हो जाने पर उसे बाहर निकालने के लिए शल्य क्रिया का सहारा लिया जाता है।[5] इस प्रकार सामवेदीय गृह्यसूत्रों में प्रसूतितंत्र से भी सम्बन्धित प्रचुर सामग्रियाँ विद्यमान है।

व्याधि –

जिस कारण से या जिसके संयोग से या मन में जिसके उत्पन्न होने से या रहने से पुरूष को दुःख का अनुभव होता है उसे व्याधि कहते है।[6]

---

1. *मं०ब्रा० 2/6/2*
2. *सं०वि०वि० – अत्रिदेव गुप्त – पृ०सं० 59*
3. *अ०वे० – 1/11/1–6*
4. *गो०गृ०सू० – पृ०सं० 393*
5. *सु०सं०चि०स्था० – 8/11*
6. *का०चि० – गंगासहाय पाण्डेय, पृ०सं० 126*

भेद

चिकित्साशास्त्रों में व्याधियों के अनेक भेदोपभेद वर्णित है, जिन्हें हम संक्षेपतः इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं –

1. आगन्तुक व्याधियाँ –

बाह्य आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने वाली व्याधियॉ इस श्रेणी में आती हैं। देव, राक्षस, यक्ष, पिशाचादि अतिमनुष्य योनियों एवं विविध प्रकार के रोगों को उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं, विष, दूषितवायु, अग्नि, विद्युत्अभिघात मुख एवं दंशजन्य, अभिघात, मारणादि के निमित्त किया गया तंत्रित अभिचार, गुरु, वृद्ध एवं सिद्ध पुरूषों का शाप, औपसर्गिक या संक्रमणशील व्याधियों के साथ सम्पर्क, रज्जू में बन्धन, सूचिभेद आदि बाह्य कारणों से शरीर के आन्तरिक घटकों के विषमता के बिना ही तत्काल रोगोत्पत्ति होती है, या उक्त कारणों के द्वारा शरीर को कष्ट होता है।

2. शारीरिक व्याधियाँ –

हीनयोग, अतियोग, व मिथ्या योग से प्रयुक्त आहार विहार, काल इन्द्रियार्थ एवं मानसिक कर्म के कारण शारीरिक त्रिधातु में वृद्धि या क्षयरूप विकार के कारण उत्पन्न रोगों को शारीरिक रोग की कोटि में रखा जाता है।

3. मानसिक व्याधियाँ –

मन जब तक शुद्ध सत्वगुण विशिष्ट रहता है तब तक मानसिक अधिष्ठान को केन्द्र मानकर व्याधियॉ उत्पन्न नही होतीं, परन्तु रज और तमस् इन दोनो मनोयोगो के प्रभाव से मानसिक विषमता होकर रोग प्रादुर्भूत हो जाते हैं। शारीरिक व्याधियों का प्रभाव मन पर और मानसिक व्याधियों का प्रभाव शरीर पर अवश्यमेव पड़ने के कारण इन प्रकार के विभाजन की आवश्यकता नही होती। व्याधियाँ के निदान के साथ रोगों को उत्पन्न करने वाले हेतुओं का भली भाँति निदान व निराकरण न हो पाने से रोगों को समूल नष्ट नहीं किया जा सकता।

विद्वानों ने व्याधियों के इन भेदों के अतिरिक्त भी अन्य भेदोपभेद किए हैं जिन्हें इस

प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है –

1. *आधिदैविक –*

   पूर्वजन्म कृत कर्मो एवं काल चक्र से प्रभावित होने वाली व्याधियॉ इस कोटि में आती है।

2. आत्यात्मिक –

   इस श्रेणी वे व्याधियाँ आती हैं जो आत्मा और मन को आधार मानकर उत्पन्न होती हैं।

3. *आधिभौतिक –*

   भौतिक कारणों से उत्पन्न होने वाली, शारीरिक व्याधियाँ इस श्रेणी में रखी जाती हैं।

   उपर्युक्त इन तीनों भेदों की सात मुख्य विशिष्टतायें हैं –

क. आदिबलप्रवृत्त –

इसके अर्न्तगत कुष्ठ, अर्श, राजयक्ष्मा, आदि व्याधियाँ आती हैं। दूषित शुक्र या आर्तव द्वारा उत्पन्न संन्तानो में इस प्रकार की व्याधियॉ आती हैं। इसीलिए इस श्रेणी की व्याधियों को आनुवंशिक कुलज या क्षेत्रीय भी कहा जाता हैं।

ख. जन्मबलप्रवृत्त –

गर्भाधान के पश्चात् माता द्वारा त्याज्य आहार विहार को ग्रहण करने के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधियों को इस श्रेणी में रखा जाता है। जन्म से ही पंगुता, बहरापन, मूकता, वामनता, आदि व्याधियाँ इसी श्रेणी की हैं।

ग. दोषबल प्रवृत्त –

जब व्यक्ति किसी रोग से आक्रान्त हो जाता है तो यदि वह अपने आहार विहार पर नियंत्रण नही रखता है तो एक व्याधि से दूसरी व्याधि उत्पन्न हो जाती है, जैसे – ज्वर के अधिक संताप से कफ एवं पित्त तथा अतिसार के कारण परिकर्ततता आदि।

उपर्युक्त इन तीनों प्रकार की व्याधियों को आत्यात्मिक व्याधि कहा जाता है, क्योंकि

इसमें व्याधियॉ प्रमुख रूप से मन के साथ शरीर पर प्रभाव डालती हैं।

घ. संघातबल प्रवृत्त –

जब कोई कमजोर व्यक्ति बलवान व्यक्ति के साथ संघर्ष करता है तो वह व्याधि युक्त हो जाता है। ऐसी व्याधियों को संघातबल प्रवृत्त व्याधियॉ कहते हैं। इस कोटि की व्याधियॉ का विभाजन दो तरह से किया जाता है – शस्त्रकृत और कालकृत या हिंसक जन्तुओं के आक्रमण से उत्पन्न।

ङ. कालबल प्रवृत्त –

इस श्रेणी में ऋतुओं के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ आती है।

च. दैवबल प्रवृत्त –

दैवादि अद्‌भुत शक्तियों का विद्रोह, अभिशाप, अभिचार आदि व्याधियाँ दैवबल प्रवृत्त मानी जाती है। इस प्रकार की व्याधियों के दो भेद किए जाते है।

1. संसर्ग –
   देवता, भूत और औपसर्गिक रोगों से युक्त व्यक्ति के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली व्याधियॉ इस श्रेणी में आती हैं।
2. आकस्मिक –
   देवादि के दृश्य सम्पर्क के बिना अकस्मात् होने वाली व्याधियॉ।

छ. स्वभावबल प्रवृत्त –

क्षुधा, तृष्णा, वृद्धावस्था आदि हेह स्वभाव से उत्पन्न होने वाले परिणाम स्वभावबल प्रवृत्त व्याधियों के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार की व्याधियों के भी दो भेद होते हैं –

1. कालज –
   स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करते हुए शरीर का संरक्षण करने पर भी स्वाभाविक समय से क्षुधा और तृष्णाजन्य कष्टों का नियत काल पर अनुभव होना ही कालज

है।

2. अकालज –

स्वस्थवृत्त का विधिवत् अनुष्ठान न करने पर असमय ही भूख प्यासादि का उत्पन्न होना या वलीपालित, जरा आदि से ग्रसित होना ही अकालज व्याधि कहलाती है।

इन अन्तिम तीनों व्याधियों को आधिदैविक व्याधि कहा जाता है।

कुछ विद्वानों ने एक अन्य प्रकार से व्याधियों के तीन भेद किए हैं –

1. औपसार्गिक –

इसे औपद्रविक व्याधि भी कहा जाता है। प्रथम उत्पन्न व्याधि के बाद उस रोग के मूल कारण से ही जो रोग बाद में उत्पन्न होता है और पहले के ही व्याधि की चिकित्सा से शान्त हो जाता है, उसी व्याधि को इस कोटि में रखा जाता है, जैसे ज्वर के संताप से उत्पन्न तृष्णा को इसी व्याधि के अर्न्तगत रखा जाता है।

2. प्राक्केवल –

जो व्याधि प्रारम्भ से ही स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हो, जो किसी दूसरी व्याधि के पूर्व में या उपद्रव रूप में उत्पन्न न हो वह प्राक्केवल व्याधि कहलाती है।

3. अन्य लक्षण –

जो व्याधि भविष्य में होने वाली व्याधि का पूर्वरूप हो अन्य लक्षण व्याधि कहलाती है। जैसे – पित्त ज्वर से पहले होने वाला नेत्र दाह।

कुछ विद्वानों की दृष्टि से व्याधियों के दो भेद इस प्रकार है –

1. स्वतंत्र व्याधियाँ –

जो व्याधियाँ शास्त्र में निर्दिष्ट हेतुओं से उत्पन्न हो, शास्त्र में वर्णित लक्षणों से युक्त हो तथा यथानिर्दिष्ट चिकित्सा से साध्य हो वह स्वतंत्र व्याधि कहलाती है।

2. परतंत्र व्याधियाँ –

जो व्याधियाँ दूसरे रोगों के कारणों से उत्पन्न हो, जिसके लक्षण भली भाँति स्पष्ट न हो, मूल व्याधि की चिकित्सा से ही जिनका शमन हो जाता है वे परतंत्र व्याधियॉ कहलाती है।

परतंत्र व्याधियों के पुनः तीन भेद किए जाते हैं –

क. दोषज –

मिथ्या आहार विहार से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ इस कोटि में आती हैं।

ख. कर्मज –

पूर्वजन्म में किए गये अशुभ के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधियों को कर्मज कहा जाता है।

ग. दोषकर्मज –

पूर्वजन्म कृत कर्मों से एवं इस जन्म में अपथ्य सेवन से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में व्याधियों के संकेत –

पूर्व में व्याधियों के स्वरूप एवं उनके अनेक भेदोपभेद के वर्णन किए गये, लेकिन सामवेदीय गृह्यसूत्रों में व्याधियों के संकेत इतने विस्तार के साथ उपलब्ध नही हैं फिर भी कुछ व्याधियों के संकेत प्राप्त होते हैं, जिन्हें हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते है –

अनकाममारमंत्र[1] के सन्दर्भ में पापरोग अर्थात कुष्ठ, राजयक्ष्मा आदि रोगों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2] प्राचीन काल से ही इन रोगों को भयंकर व कुप्रभावी माना जाता है।

गृहनिर्माणविधि में गृह्यपरिक्षेत्र में कुछ वृक्षों के न रहने का विधान है। जैस उत्तर भाग में उदुम्बर। उदुम्बर वृक्ष के रहने से अक्षिरोग का संकेत प्राप्त होता है।[3]

चिकित्सा –

प्रतिकर्म द्वारा रोगों एवं दूषित धातुओं की समता चिकित्सा का प्रथम एवं अन्तिम उद्देश्य माना गया है। इस सन्दर्भ में कहा भी गया है –

"याभिः क्रियाभिः जायन्ते शरीरे धातवः समाः।

सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तत् भिषजां स्मृतम्।।"[4]

---

1. *मं0ब्रा0 – 2/4/14*
2. *गो0गृ0सू0 – 4/6/2*
3. *गो0गृ0सू0 – 4/7/21*
4. *च0सं0सू0स्था0 – 16/34*

अर्थात् जिस क्रिया के द्वारा उत्पन्न व्याधि का शमन तथा विषम दोषों का प्रकृत्यात्मक अनुवर्तन होता है, वही आदर्श चिकित्सा मानी जाती है। आदर्श चिकित्सा के प्रयोग से व्याधि एवं दोषों का शयन होने के अतिरिक्त उससे शारीरिक धातुओं के लिए सर्वाधिक हितकारी होना और व्याधि के प्रभाव से उत्पन्न धातुक्षय और दौर्बल्य का प्रतिकार करते हुए स्वास्थ्य अनुवर्तन होना भी आवश्यक होता है। आदर्श चिकित्सा उसे कहते है जिसमे निम्न गुण विद्यमान हो –

1. विकृत दोषों का शयन करते हुए व्याधियों का उन्मूलन करना।
2. उत्पन्न व्याधि शमन के अतिरिक्त शारीरिक धातुओं के लिए सर्वाधिक हितकारी होना व अन्य किसी विकार को उत्पन्न न करना।
3. दोष व व्याधि के प्रभाव से क्षीण शारीरिक धातुओं का प्रत्यनुवर्तन करना।

चिकित्सा के पूर्व उद्देश्यों की सिद्धि के लिए व्यापक चिकित्सा के दो भेद किए गये है – दोषप्रयत्नीक चिकित्सा और व्याधि प्रयत्नीक चिकित्सा।

1. दोषप्रयत्नीक चिकित्सा -

व्याधि के बाहरी लक्षणों पर विशेष लक्ष्य न करते हुए जिस दोष का प्रकोप होने के कारण व्याधि एवं उसके लक्षण उत्पन्न हो उस मूल हेतु का शमन करते हुए दूषित धातओं को समस्थिति में लाना दोषप्रयत्नीक चिकित्सा कहलाती है।

2. व्याधिप्रयत्नीक चिकित्सा -

प्रत्येक व्याधि का प्रधान लक्षण उसका आत्मलिंग होता है जैसे अतिसार में धातु एवं मलों का अतिसरण, ज्वर में संताप आदि। इन लक्षणों का उग्र स्वरूप होने पर व्याधि के शमन के लिए तत्काल उपचार करना पड़ता है। परमज्वर होने पर सन्ताप के शमन के लिए शीतोपचार किया जाता है। अतिसार में अत्यधिक विरेचन होने पर सद्यः स्तम्भक व्यवस्था आवश्यक होती है।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में चिकित्सा -

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में बहुविधि चिकित्सा सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनको इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है –

व्रणलेप –

गोपुष्टि कामार्थ किए जाने वाले विविध कार्यों के निर्देश सामवेदीय गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होते हैं, उनमे कर्णछेदन एक है। कर्ण छेदन करते समय कर्ण में व्रण हो जाता है। व्रण को पूर्ण करने के लिए लेप क्रिया का विधान हैं – "कृत्वा चानुमन्त्रयेत लोहितेन स्वधितेनेति"[1]। इस वाक्यांश में च शब्द से व्रणलेप का द्योतन होता है– "च शब्दाद्व्रणलेपनं च कुर्यादिति।"[2]

मणिचिकित्सा –

मणियों का शारीरिक सम्पर्क कराकर विविध प्रकार की व्याधियों का निराकरण किया जाता है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों के आश्वयुजी कर्म में लाक्षामय मणियों का स्वयं ही रक्षा अर्थात् विविध व्याधियों के रक्षार्थ बाधने का विधान है।[3] इस प्रकार वैदिक व आयुर्वेदिक दोनों स्थानों में मणि बन्धन क्रिया बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

विष का निष्प्रभावीकरण –

यदि कोई विषधर प्राणी किसी सामान्य प्राणी को डस ले तो विष के प्रभाव को निष्प्रभावी बनाने के लिए सामवेदीय गृह्यसूत्रों में चिकित्सापरक कार्यों का उल्लेख है। इस प्रसंग में विषधर द्वारा डसे हुए प्राणी को जलस्नान कराकर मंत्र जप का विधान है।

क्रिमि चिकित्सा –

क्रिमियों से अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। ये क्रिमियॉ दृश्य एवं अदृश्य दोनो प्रकार की होती है। क्रिमि युक्त व्रण बड़ें पीड़ाकारक होत हैं। इन क्रिमियों के दूरीकरण या विनाश के लिए सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विधान किया गया है। क्रिमियुक्त स्थान को जल से भली भॉति प्रक्षालित करना क्रिमि चिकित्सा का ही एक अंग है। यदि क्रिमियॉ पशुओं को पड़ गई हों तो जुते हुए खेत की मिट्टी को किसी ऊँचे स्थान पर जो अपरान्ह काल में रखी गई हो को लेकर प्रातः काल में क्रिमियुक्त स्थान में छिड़कने का विधान है।

---

1. गो0गृ0सू0 – पृ0सं0 306
2. गो0गृ0सू0 – पृ0सं0 652
3. गो0गृ0सू0 – 3/8/6

सन्तापहरण -

जैसा कि सन्ताप शब्द से ही स्पष्ट होता है कि यह अत्यन्त कष्टकारी होता है। गौओं का सन्ताप दूर करने के लिए सामवेदीय गृह्यसूत्रों में लौहचूर्ण का हवन करने का विधान है। जब अतिसन्ताप युक्त हो उन्हें एक गौशाला में बॉधकर इस कार्य को करने का विधान है।

आरोग्यता -

सामवेदीय गृह्यसूत्र पशुओं की चिकित्सा को भी बड़ा ऊँचा दर्जा प्रदान करते हैं। पशुओं की अनवरत आरोग्यता के लिए अग्नि स्थापित कर उसमें क्षिप्र होम विधि "न सहस्त्रबहुः"1 मंत्र से यव व हवन की मिश्रित आहुति प्रदान करने का विधान है।

---

1. मं0ब्रा0 - 2/4/7

सामवेदीय गृहय सूत्रों के विभिन्न पक्षों का
समीक्षात्मक अध्ययन

उपसंहार

जीवन चक्र एक रहस्याच्छादित पहेली है। इस नश्वर संसार में आने और जाने का क्रम बना रहता है। यही इस संसार का सार है। जीवन की अवस्थिति का अवलोकन करने पर उसके दो रूप सामने आते हैं – सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म से हमारा तात्पर्य है आत्मा की सत्तात्मक स्थिति। स्थूल से तात्पर्य है जीवन की अन्य इयत्तायें। यह आत्मतत्त्व अजर, अमर एवं नित्य अपरिवर्तनशील तत्त्व है। इसी कारण इसमें चैतन्यभाव होता है। इसी चेतन अवस्था से संयुक्त जीव सत्, चित् और आनन्द में एकाकार होने की अनुभूति करता है। स्थूल तत्त्व की भौतिक सत्ता होती है, जिससे यह सूक्ष्म तत्व तक पहुँचने के मार्ग में बाधक हो जाता है। इसी स्थूल तत्व को परिमार्जित और परिष्कृत करने सूक्ष्म तत्व का आभास कराना ही भारतीय महर्षियों और मनीषियों को अभीष्ट था। अतः स्थूल तत्व को सूक्ष्म तक पहुँचने के लिए कर्मकाण्ड का विधान हुआ, जिसका पूर्ण पल्लवन गृह्यसूत्रों में अनुस्यूत है।

सामवेदीय गृह्यसूत्र अपने विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अनुपम हैं। वैसे गृह्यसूत्रों का मुख्य विषय संस्कार है, फिर भी सामवेदीय गृह्यसूत्र दर्शपौर्णमास, पंचमहायज्ञों, बलिप्रदान एवं छोटे – छोटे हवनादि कर्मों को अपना वर्ण्य विषय बनाये हैं। गृह्याग्नि सर्वदा घर में प्रदीप्त रखी जाती थी। लोगों की यह धारणा थी कि अग्नि रोग, राक्षसों एवं अन्य अमंगल शक्तियों से लोगों की रक्षा करती है। गृह्याग्नि में ही प्रत्येक सायं प्रातः होमादि कार्य किये जाते थे। हर व्यक्ति यदि सायं एवं प्रातः काल में होम करे तो इससे वातावरण की शुद्धि होती है। वायु प्रदूषण की समस्या बहुत हद तक समाप्त हो जाती है। आधुनिक युग में भौतिकता के पीछे भागती जनसंख्या का आध्यात्मिक एवं धार्मिक पक्ष दुर्बल होता जा रहा है। 'सद्वृत्त' जिसका आयुर्वेद में विस्तृत वर्णन किया गया है, जो स्वस्थ्य जीवन व्यतीत करने के लिए परमावश्यक है, उसका समायोजन सामवेदीय गृह्यसूत्रों में स्नातक के नियम, पंचव्रतों के पालन आदि के अन्तर्गत उल्लिखित है, जो तत्कालीन समाज के नैतिक आध्यात्मिक व धार्मिक उत्थान एवं आयुर्वेदीय ज्ञान का द्योतक है।

सृष्टि परम्परा के आदिम युग में मानव जीवन असभ्य था। लोग अनियंत्रित एवं स्वच्छन्दचारी थे। समाज का संगठन न होने से किसी भी प्रकार का सामाजिक बन्धन नहीं था। ऐसी

स्थिति में संस्कार हमारे चतुर्दिक विकास में सहायक बनें। इन संस्कारों के गवेषणापथ पर अनेक कठिनाइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जिन परिस्थितियों के कारण इन संस्कारों का प्रादुर्भाव हुआ, वे समयान्तराल में विलीन हो गयीं। इन संस्कारों के रूपों में अनेक परिवर्तन अवसरानुकूल होते गये। अतः आधुनिक युग में लोग इनको सन्देह की दृष्टि से देखने लगे।

संस्कारों के उद्देश्य तो अत्यन्त लोकप्रिय वं वैज्ञानिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं। इन संस्कारों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि ये संस्कार उस विश्वास को प्रकट करते है कि लोग हमेशा अतिमानुषी प्रभावों से अपने को परिवेष्ठित महसूस करते थे। उनका विश्वास था कि ये अतिमानुषी शक्तियाँ जिस किसी समय अनिष्ट कर सकती हैं, अतः वे उन कुप्रभावों को समाप्त करने के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहा करते थे। फलतः लोग देवों या दिव्य शक्तियों से विभिन्न संस्कारों के समय सहायता की कामना करते थे। इन कुप्रभावों के निराकरण के अतिरिक्त वे कुप्रभावों से अपने को प्रभावी बनाने के लिए प्रयत्न करते थे। उनका यह विश्वास था कि जीवन क्रम के प्रत्येक चरण में कोई न कोई देवता अधिष्ठित है। अतः प्रत्येक संस्कार के समय पग – पग पर संस्कार्य व्यक्ति के आशीर्वादार्थ देवताओं का उद्बोधन किया जाता था। जैसे विष्णु को गर्भाधान, प्रजापति को विवाह एवं बृहस्पति को उपनयन के अवसर पर आदि। वे केवल देवताओं के उद्बोधन मात्र से ही संतोष नहीं कर लेते थे, अपितु वे विभिन्न प्रकृयाओं और वस्तुओं के माध्यम से कल्याण भी चाहते थे। सीमन्तोनयन संस्कार के समय पत्नी की माँग को सवारना व गले में उदुम्बर वृक्ष की शाखा का स्पर्श कराना, पुंसवन के समय वटवृक्ष के शुंग के रस को दाहिनी नासिका में डालना आदि। उनके दृढ़ विश्वास व वैज्ञानिक बुद्धि के प्रतीक थे। अतः ये अशुभ भावनाओं के प्रतिकार व शुभ कामना की प्राप्ति के माध्यम हैं। संस्कारों द्वारा भौतिक वस्तुओं जैसे – सन्तान, दीर्घजीवन, समृद्धि, शक्ति आदि की कामना की गयी है। ये संस्कार कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड व उपासनाकाण्ड – तीनों मार्गों को गति प्रदान करने में सहायक होते हैं, परन्तु इनका कर्मकाण्ड के साथ विशेष सम्पर्क है।

गृह्यकर्मों में मन्त्रों के प्रयोग अवसरानुकूल हैं। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण की विशिष्टता उसकी उच्चारण प्रक्रिया है, जो अत्यन्त प्राचीन है, जिनके निर्देश शिक्षा ग्रन्थों में वर्णित हैं। आधुनिक युग में इस उच्चारण प्रक्रिया का ह्रास हो गया है। कुछ ही स्थानों पर यह प्रक्रिया जीवित देखी जाती है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में आयुर्वेदीय सामग्रियाँ परिलक्षित होती हैं। ये मन्त्र कहीं दीर्घायु

से सम्बन्धित है, तो कहीं वायु, अग्नि, जल, सूर्य आदि में औषधात्मक तत्त्वों का निरूपण करते हैं। इस तरह ज्ञान के बीज ये मन्त्र इहलोक और परलोक दोनों की दृष्टि से अनुपम हैं।

हमारे समाज के प्राचीन धार्मिक स्वरूप व कल्याण भावना का दिग्दर्शन गृह्यसूत्रों में प्राप्त होता है। तीनो वर्ग – ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यज्ञोपवीत धारण करते थे। प्रत्येक धार्मिक कृत्य में अधिकांशतः पति–पत्नी साथ होते हैं।

पंचमहायज्ञों की विधियों एवं उनके उद्देश्यों को देखने से उस काल के समाज की उदार व धार्मिक भावना परिलक्षित होती है। प्रत्येक धार्मिक कार्य ज्योतिष द्वारा प्रशस्त समय काल में ही किये जाते थे। जीवनसंगिनी का चुनाव लक्षणों के अवलोकन पूर्वक किया जाता था। कन्या की अपेक्षा पुत्रोत्पत्ति को ज्यादा महत्त्व दिया था। इसका अनुमान पुंसवन संस्कार के कारण लगाया जाता है, क्योंकि पुंसवन संस्कार पुरूष सन्तति उत्पन्न करने के लिए ही किया जाता था। विवाह पूर्व उपनयन पूर्वक ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने की प्रथा थी। ब्रह्मचर्य स्वस्थ्य जीवन की आधारशिला है। प्रायश्चित प्रकरण में वर्णित विषयों पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगता है कि तत्कालीन समाज का नैतिक स्तर बहुत उन्नत था। वे जाने या अनजाने में किसी भी प्रकार के अनुचित कर्म के लिए प्रायश्चित करते थे। विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए तत्कालीन समाज में आभिचारिक कार्यों के भी उल्लेख हैं। क्रिमियों की चिकित्सा व सर्पविष की चिकित्सा को वर्ण्य विषय बनाना चिकित्सकीय ज्ञान का द्योतन कराता है।

इस प्रकार सामवेदीय गृह्यसूत्रों के मन्त्र व कर्मकाण्ड दोनों भागों में हमारे पूर्वजों की उदार, नैतिक, आध्यात्मिक तथा चिकित्सकीय अवधारणायें सन्निहित हैं। आयुर्वेद द्वारा स्वास्थ्य तथा पूर्ण जीवन की उपलब्धि के लिए बताये गये मार्गों का सामवेदीय गृह्यसूत्रों में पूर्वरूपेण सम्प्राप्ति होती है। आयुर्वेद के "स्वस्थ्यवृत्त" के अनुपालन से मनुष्य अपना सम्पूर्ण जीवन निर्विघ्न व्यतीत कर सकता है। ऐसी ही अवधारणायें सामवेदीय गृह्यसूत्रों की भी है। विभिन्न यज्ञों, व्रतों व संस्कारों में वर्णित आचार – विचार आयुर्वेद शास्त्र में कथित आचार – विचार से साम्य रखते हैं। इसलिए सामवेदीय गृह्यसूत्र हमारे जीवन के सभी पक्षों की सतत प्रवाह व ज्ञानमयी धारा को प्रवाहित करते हुए, अपने सिद्धान्तों की पूर्ण एवं अमिट छाप छोड़े हैं। इस तथ्य को कोई भी विद्वान, अध्येता, धर्माधिकारी एवं चिकित्सक अनंगीकृत नहीं कर सकते। तथा इन गृह्य सूत्रों के विविध पक्ष, व्यक्ति के जीवन के इहलौकिक व पारलौकिक अभ्युदय की भावना से पूर्णरूपेण भावित है।

—x—

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद – (सायण भाष्य सहित) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर 1962
2. अभिज्ञान शाकुन्तलम् – डॉ0 रमाशंकर त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, संस्करण द्वितीय 1981
3. अष्टांग संग्रह – सम्पा0 – वैद्य अनन्त दामोदर आठवले, श्रीमद् आत्रेय प्रकाशन 'नन्दन' 117/0, 121/2, एरण्डनगर पुणे –4
4. अष्टाध्यायी – प्रथम भाग, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, 1964
5. अष्टांग हृदय – श्री हरिनारायण शर्मा वैद्य, लोलार्ककुण्ड, भदैनी वाराणसी
6. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र – रंगास्वामी 1945
7. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास – आचार्य प्रियव्रत शर्मा – चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी, संस्करण द्वितीय 1981 ई0
8. आयुर्वेद का इतिहास – अत्रिदेव विद्यालंकार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, वि0सं0 1900
9. आयुर्वेद का इतिहास – प्रथम भाग – साहित्यायुर्वेदाचार्य श्री कविराज वागीश्वर शुक्ल, चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन 1977
10. आश्वलायन गृह्यसूत्र – निर्णय सागर प्रेस – बम्बई 1894
11. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र – हरदत्त मिश्र – वि0सं0 1971
12. ऐतरेय ब्राह्मण – सम्पादक व अनुवादक डॉ0 सुधाकर मालवीय तारा पब्लिकेशन वाराणसी
13. ऋग्वेद संहिता – सायणभाष्य – एफ0 मैक्समूलर, 1990 – 92
14. काठक गृह्यसूत्र – डॉ0 बिलेमकालण्ड, फरवरी 1925
15. कात्यायन संहिता – (शुक्ल यजुर्वेद संहिता) उव्वट महीधर भाष्य, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस 1912 (अध्याय 1-10).
16. काश्यप संहिता – विद्योतिनी टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी 1953

17. काशिका – हिन्दी प्रथम भाग, श्री नारायण मिश्र, 1969

18. काय चिकित्सा – गंगासहाय पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान संस्करण द्वितीय 1976

19. कुमारसम्भवम् – पं0 प्रद्युम्न पाण्डेय 1963

20. कौशिक गृह्यसूत्र – एम0 ब्लूमफिण्ड, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1972

21. कौषितकि गृह्यसूत्र – ति0रा0 चिन्तामणि, यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास 1914

22. खादिर गृह्यसूत्र – हिन्दी अनुवादक डॉ0 उदय नारायण सिंह शास्त्र पब्लिसिंग हाउस मुजफ्फपुर 1934.

23. गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग – डॉ0 कृष्णलाल, नेशनल पब्लिसिंग हाउस 2/35, अनसारी रोड़ दरियागंज, दिल्ली – 6

24. गोभिल गृह्यकर्म प्रकाशिका – काशी विक्रमाब्द 1962 ई0

25. गोभिल गृह्यसूत्र – पं0 सत्यव्रतसामश्रमिकृत संस्कृत व्याख्योपेतम्तच्च ठाकुर उदय नारायण सिंह कृत हिन्दी व्याख्यान सहितम्, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान 38 यू0ए0 बंगलो रोड़, जवाहर नगर दिल्ली।

26. गोभिल गृह्यसूत्र – चिन्तामणि भट्टाचार्य,मेट्रोपोलिटेन प्रिण्टिंग एण्ड पब्लिसिंग हाउस लिमिटेड, कलकत्ता 1936.

27. गृह्यासंग्रह – गोभिल पुत्रकृत चन्द्रकान्त तर्कालंकार भट्टाचार्य कृत भाष्य, एशियाटिक सोसायटी सभा।

28. चरक संहिता (प्रथम भाग) – सम्पादक – राजेश्वर दत्त शास्त्री पं0 यदुनन्दन उपाध्याय, पं0 गंगासहाय पाण्डेय, डा0 बनारसी दास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2034।

29. छान्दोग्य – उपनिषद् – घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस गोरखपुर सं0 1994।

30. जैमिनी गृह्यसूत्र – डॉ0 डब्ल्यू कैलण्ड, मोतीलाल बनारसीदास 1922.

31. जैमिनी न्यायमाला विस्तर– माधवाचार्य मायूरम्, म0 रामनाथ दीक्षित, प्र0सं0 1983

32. तैत्तिरीय संहिता – अनन्त शास्त्री, द्वितीय संस्करण, सं0 2013.

33. तर्कसंग्रह – अन्नमभट्ट 1963

34. तैत्तिरीय ब्राह्मण – सायणभाष्य सहित, आनन्द्राश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना 1938

35. द्राह्यायण गृह्यसूत्र – हिन्दी अनुवादक : ठाकुर उदयनारायण सिंह, शास्त्र पब्लिसिंग हाउस, मुजफ्फरपुर 1934.

36. निरूक्तम् – मेहरचन्द, लक्ष्मनदास, दरियागंज, दिल्ली

37. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति (प्रारम्भ से गुप्त युग पर्यन्त) – डॉ० राजकिशोर सिंह एवं डॉ० ऊषा यादव, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (तृतीय संस्करण) 1975

38. पारस्कर गृह्यसूत्र – मुंशीराम, मनोहर लाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, द्वितीय संस्करण 1982

39. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – डॉ० जयशंकर मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी 1986.

40. बौधायन गृह्यसूत्र – आर०शामा शास्त्री, मैसूर 1920.

41. भारतीय धर्म और दर्शन – डॉ० बल्देव उपाध्याय, चौखम्बा ओरियण्टालिया वाराणसी 1977.

42. भारद्वाज गृह्यसूत्र – सोलोमांस, एच०जे० डब्ल्यू लेडेन 1913.

43. भावप्रकाश – श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत साहित्य वाराणसी।

44. भेलसंहिता – गिरजादयाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी 1959

45. मनुस्मृति – पं० रामेश्वर भट्ट, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली।

46. महाभारत – पी०सी०राय, कलकत्ता 1881.

47. मन्त्र ब्राह्मण – सत्यव्रतसामश्रमी, कलकत्ता 1890 ई०

48. यजुर्वेद – सातवलेकर सं० 2003

49. रघुवंशम् – हरिगोविन्द मिश्र, 1961

50. लाट्यायन श्रौतसूत्र – जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त चौखम्बा वाराणसी सं० 1889

51. वाजसनेयी संहिता – (महीधर भाष्य) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1912.

52. विश्वधर्मदर्शन – श्री साँवलिया बिहारीलाल वर्मा, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, खृष्टाब्द 1975

53. बृहद्देवता – प्रथम भाग : डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा 1912

54. वैदिक साहित्य और संस्कृति - आचार्य बल्देव उपाध्याय, शारदा मन्दिर वाराणसी 1967

55. बृहदारण्यकोपनिषद् – पं० सखाराम, पं० रामचन्द्र शास्त्री, वाणी विलास संस्कृत पुस्तकालय,

कचौड़ीगली काशी, सं0 2011

56. वेदों में भारतीय संस्कृति– पं0 आद्या ठाकुर, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ 1967

57. वैदिक सम्पदा – पं0 वीरसेन वेदाश्रमी गोविन्दराम, आशा नन्दन नई सड़क दिल्ली–6

58. शतपथ ब्राह्मण – हि0अ0 – गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्राचीन वैदिक अध्ययन अनुसन्धान संस्थान दिल्ली 1967

59. शार्ङ्गधर संहिता – श्री प्रयागदत्त शर्मा, चौखम्बा अमर प्रकाशन वाराणसी सन् 1981.

60. शांखायन गृह्यसूत्र – सेहगल – 1960

61. शिक्षा संग्रह – ग्रिपिथ – 1830

62. सामवेद संहिता – सायण भाष्य – सत्यव्रतसामश्रमी कलकत्ता 1973

63. सुश्रुत संहिता – जय कृष्णदास, आयुर्वेद ग्रन्थमाला, चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी सं0 1980.

64. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – डॉ0 वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1978.

65. संस्कार विधि विमर्श – अत्रिदेव गुप्त, नरेन्द्र कुमार शास्त्री, बी0ए0यू0 1951

66. हिन्दू संस्कार – डॉ0 राजबली पाण्डेय – चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी 1966

संकेत सूची

अ0वे0	–	अथर्ववेद
अ0सं0	–	अष्टांग संग्रह
अ0हृ0	–	अष्टांग हृदय
आ0श्रौ0सू0	–	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आप0गृ0सू0	–	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
ऐ0ब्रा0	–	ऐतरेय ब्राह्मण
ऋ0सं0	–	ऋग्वेद संहिता
का0सं0	–	कात्यायन संहिता
का0श्रौ0सू0	–	कात्यायन श्रौतसूत्र
का0गृ0सू0	–	काठक गृह्यसूत्र
कौ0गृ0सू0	–	कौशिक गृह्यसूत्र
कौषी0गृ0सू0	–	कौषीतकि गृह्यसूत्र
खा0गृ0सू0	–	खादिर गृह्यसूत्र
गो0गृ0सू0	–	गोभिल गृह्यसूत्र
गो0गृ0क0प्र0	–	गोभिल गृह्यकर्म प्रकाशिका
गृ0सं0	–	गृह्या संग्रह
च0सं0	–	चरक संहिता
छा0उ0	–	छान्दोग्य उपनिषद्
जै0न्या0मा0वि0	–	जैमिनि न्यायमाला विस्तर
जै0गृ0सू0	–	जैमिनि गृह्यसूत्र
तै0ब्रा0	–	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै0सं0	–	तैत्तिरीय संहिता
द्रा0गृ0सू0	–	द्राह्यायण गृह्यसूत्र
पा0भे0	–	पाठभेद

पा0गृ0सू0	—	पारस्कर गृह्यसूत्र
बै0गृ0सू0	—	बौधायन गृह्यसूत्र
भा0गृ0सू0	—	भारद्वाज गृह्यसूत्र
भे0सं0	—	भेल संहिता
मं0ब्रा0	—	मन्त्र ब्राह्मण
म0सं0	—	मनु संहिता
मा0गृ0	—	मानव गृह्यसूत्र
य0वे0	—	यजुर्वेद
ला0श्रौ0सू0	—	लाट्यायन श्रौतसूत्र
वा0सं0	—	वाजसनेयी संहिताब
बृ0उ0	—	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ0दे0	—	वृहद्देवता
वै0सं0	—	वैदिक सम्पदा
श0ब्रा0	—	शतपथ ब्राह्मण
सा0सं0पू0	—	सामसंहिता. पूर्वार्चिक
सा0सं0उ0	—	सामसंहिता. उत्तरार्चिक.
सु0सं0	—	सुश्रुत संहिता
सं0वि0वि0	—	संस्कार विधि विमर्श
हि0सं0	—	हिन्दू संस्कार